बाल विज्ञान पत्रिका फरवरी 2014

चकमक

मूल्य ₹ 30

फरवरी

अब जनवरी की धुन्ध और कोहरा धीरे-धीरे छाँटने लगा है। कोहरे के पीछे से साफ नीला आकाश दोबारा बाहर झाँक रहा है। मानो पृथ्वी और आकाश के बीच का मार्ग दोबारा पारदर्शी हो गया हो, मानो एक बार फिर धुन्ध के पीछे दूर चला गया आकाश पास आ गया हो और इसी की खुशी में पेड़ों, पौधों की डालों के भीतर छिपे बैठे फूलों ने यह तय किया हो कि अब बाहर आना चाहिए। नई पत्तियों ने भी अब बाहर आने की ठानी होगी। इन कोंपलों के बीच फूलों का निकलना फरवरी के महीने को जितना सुन्दर बनाता है उतना ही रहस्यमय भी। फरवरी पृथ्वी के द्वार पर बसन्त की दस्तक की तरह आती है। और जल्द ही सारी भूमि पर बसन्त के बिखरने की शुरूआत हो जाती है बल्कि वह बिखर जाता है...।

उदयन वाजपेयी

बाल विज्ञान पत्रिका
चकमक

अंक 329 फरवरी 2014

4 बोली रंगोली
6 कुरजां, गुलाबी और गोरी मेम
9 शब्द कहाँ से आते है?
10 एक था हाजी एक था नाजी
12 एक बहुत लम्बा दिन
16 धरती गर्म होगी तो चमगादड़ों की शामत आएगी
18 मेरी प्यारी बेटी
22 मेरा पन्ना
25 सर्दी की तीन कविताएँ
26 भात की खुशबू आज भी याद है
29 माथापच्ची
30 शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता
32 हमारी बिल्ली
36 कवि विनोदकुमार शुक्ल से बातचीत
40 मसला दरवाज़े से ओझल होते अजनबी का
43 चित्रपहेली
44 दो गौरय्ये

हाशिए के सभी चित्रः येवेगनी चारुशिन
रेडहिल नामक किताब से साभार
प्रकाशकः प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को

आवरण चित्र
चित्रः संजू जैन

सम्पादन
सुशील शुक्ल
शशि सबलोक

सहायक सम्पादक
कविता तिवारी

सम्पादकीय सलाहकार
रेक्स डी रोज़ारियो

विज्ञान सलाहकार
सुशील जोशी

डिज़ाइन
दिलीप चिंचालकर

इस अंक में

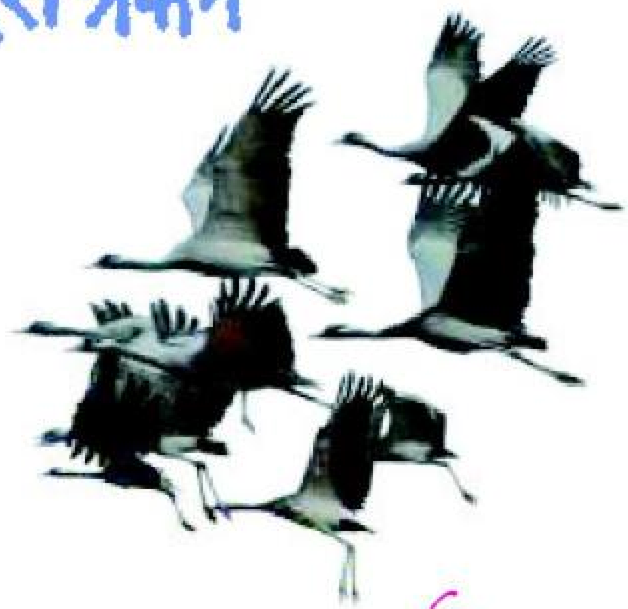

6

यह कैसी रोमांचक लय है कि हज़ारों किलोमीटर दूर सर्द प्रदेशों में, कुरजां के मन में भारत आने की इच्छा जगती है

18

अब जब तुम दस साल की हो गई हो, तो मैंने सोचा क्यों न तुम्हें उन सब के बारे में लिखूँ जिन्हें मैं बहुत ज़रूरी मानता हूँ।

32

जब वह आँख मूँदकर पड़ी रहती थी तो किसी विचारक जैसा सुन्दर भाव उसके मूँछदार छोटे चेहरे पर दिखाई देता था।

10

हाजी-नाजी

12

यह एक बहुत लम्बा दिन है जो बीतता ही नहीं है। तारीखें बदल जाती हैं, पर वह अपनी जगह रहता है। उजाले से भरा हुआ। रात का समय हो जाता है, पर रात का अँधेरा कहीं दिखाई नहीं पड़ता।

विप्रो एप्लाइंग थॉट इन स्कूल्स के वितीय सहयोग से विकसित

वितरण
झनक राम साहू

सहयोग
मिताली अहीर
वरुण ग्रोवर
मिहिर
प्रभात
कमलेश यादव

सदस्यता शुल्क

एक प्रतिः	30.00	(व्यक्तिगत)
	50.00	(संस्थागत)
वार्षिकः	300.00	(व्यक्तिगत)
	500.00	(संस्थागत)
तीन सालः	800.00	(व्यक्तिगत)
	1350.00	(संस्थागत)
आजीवनः	4000.00	(व्यक्तिगत)
	6000.00	(संस्थागत)

सभी डाक खर्च हम देंगे। चन्दा (एकलव्य के नाम से बने) मनीऑर्डर/चैक से भेज सकते हैं। भोपाल के बाहर के चैक में 80.00 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।

एकलव्य
ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल, म.प्र. 462016
फोनः (0755) 4252927, 2550976, 2671017
फैक्सः (0755) 2551108
e mail - chakmak@eklavya.in
e mail - circulation@eklavya.in
www.chakmak.eklavya.in
www.eklavya.in

चाहे तो आसमान पलट सकती है हवा
पन्ना पलट सकेगी क्या मेरी किताब का
गुलज़ार

दोस्तो, इस बार भी हमें तुम्हारे साढ़े तीन सौ से ज़्यादा चित्र मिले। गुलज़ार साब के पसन्दीदा पाँच चित्र यहाँ पेश हैं। इन पाँचों चित्रकारों को उपहार में चकमक की एक साल की सदस्यता मिलेगी। चौदह अन्य चित्र भी हमें पसन्द आए। इन्हें तुम पेज 15 पर देख सकते हो।

मार्च के लिए यह पहेली पढ़ो और चित्र बनाओः

इक पेड़ है जिससे, एक ही पत्ता
रोज़ ज़मीं पर गिरता है
सदियों से ये रीत है उसकी,
गिरता है, तब खिलता है!

हो सकता है बड़े तुम्हें इसके अर्थ बताएँ। उनके अर्थ सुनो-समझो पर चित्र अपने मन का ही बनाओ...। कोशिश करना कि तुम्हारा चित्र हमें **12 फरवरी** तक मिल जाए। चित्र के साथ अपना पता, कक्षा, फोन नम्बर ज़रूर लिखना। हमारा पता है - चकमक, एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, शिवाजी नगर, भोपाल -16 (फोन - 09425010115) या ईमेल करें- chakmak@eklavya.in

शिवम नरवरिया, 8वीं, संस्कार वैली स्कूल, भोपाल

बोली रंगोली

अदनान, चौथी,
नेहरू इंग्लिश स्कूल, नाँदेड़

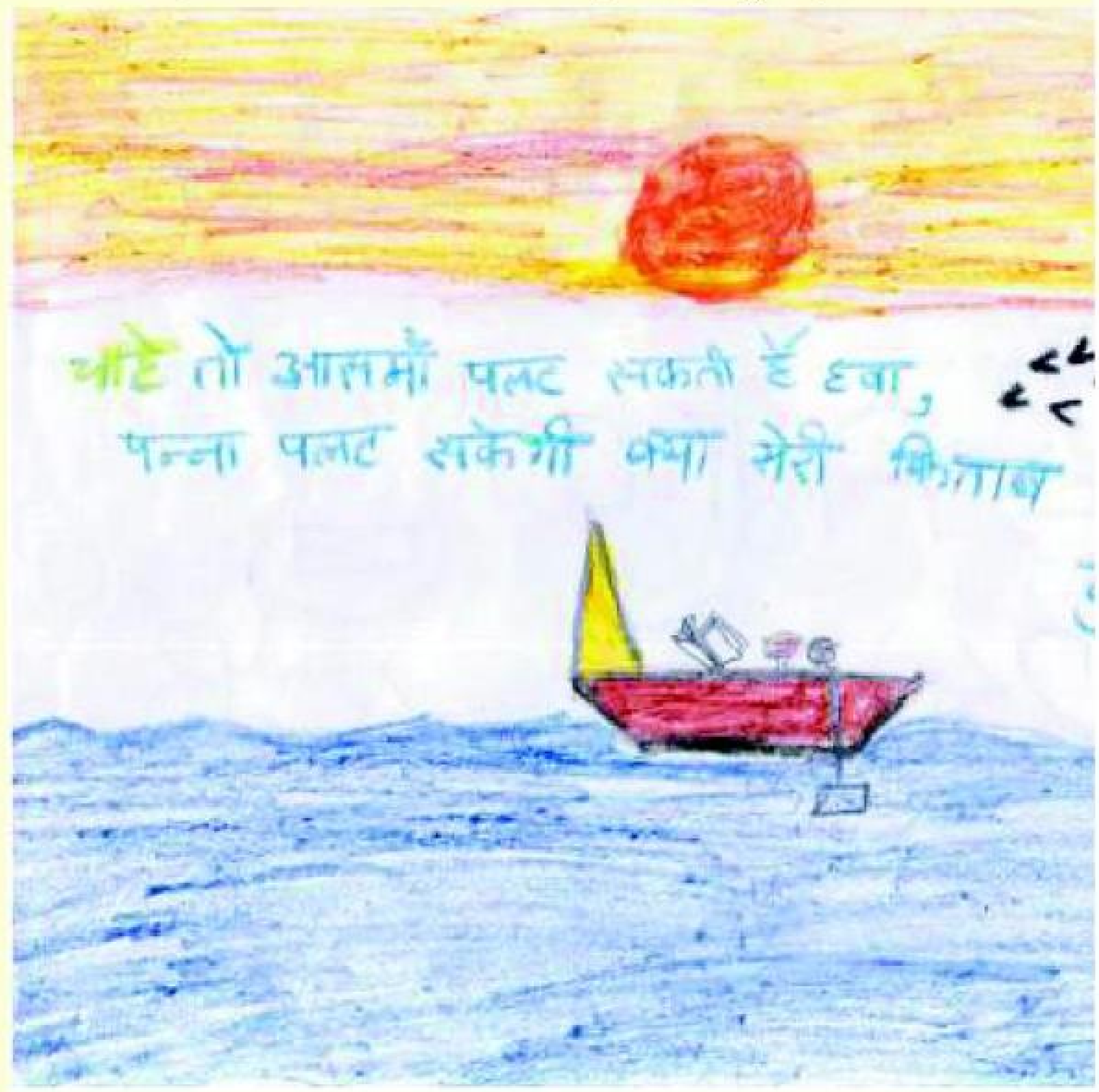

अभिदीप, 8वीं, संस्कार वैली स्कूल, भोपाल

पहले पाँच

काशफ खान, पाँचवीं, रेडक्लिफ स्कूल, भोपाल

मनीष मयंक, किलकारी बिहार बालभवन, पटना

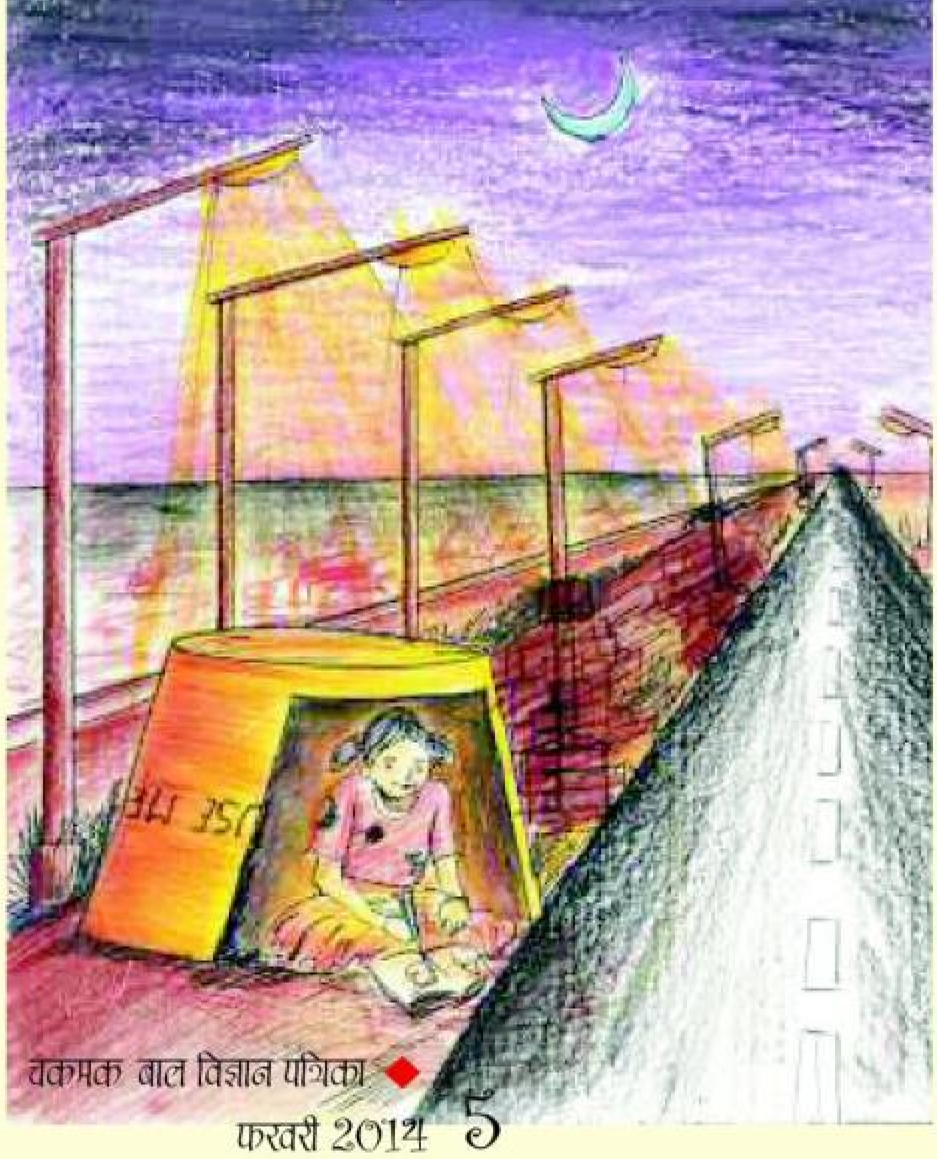

कुरजां, गुलाबी और गोरी मेम

प्रभात

कुरजां आने का समय हो गया। कुरजां के भारत में पहुँचने का यही समय है – सर्दियाँ। शरद ऋतु के आने के साथ ही कुरजां का राजस्थान के गाँवों के जलाशयों के आसपास दिखाई देना शुरू हो जाता है। प्रकृति की यह कैसी रोमांचक लय है कि हज़ारों किलोमीटर दूर ठण्डे प्रदेशों में, कुरजां के मन में भारत आने की इच्छा जगती है। और वे हज़ारों की संख्या में उड़ान भरती हैं भारत के विशाल भूखण्डों में उतरने के लिए।

कुरजांएँ झुण्ड में उड़ती हैं। उड़ती हैं तो दिन है कि रात यह नहीं देखतीं। जब थोड़ा आराम लेना होता है तो वे जलाशयों के किनारे उतर आती हैं। कीड़े-मकोड़े खाकर ऊर्जा लेती हैं।

रेगिस्तान के किसानों को पता है उनके आने का समय। उन्हें यह भी पता है कि रेगिस्तान में वैसे जलाशय तो हैं नहीं कि इतने जल-कीट पतंगे मिल सकें कि हज़ारों की संख्या में आनेवाली भूखी कुरजांएँ अपनी भूख मिटा सकें। तो अब वे रेत के धोरों में बाजरी (बाजरे) की जो थोड़ी-बहुत खेती करते हैं उसी में से कुछ बाजरी कुरजांओं के लिए बचाकर रखते हैं। जब कुरजांएँ आना शुरू होती हैं तो वे अपने आँगनों में बाजरी बिखेरते हैं। पंख फड़फड़ाती, आँखें चमकाती कुरजांएँ बाजरी चुगती हैं। कुरजांओं को बाजरी डालते हुए किसानों के मनों में खुशी की जो लहरें उठती हैं, वह इस संसार के दुर्लभतम सुखों में से एक है।

कुरज-कुरज बेलाड़ा तोड़
कुरआँव-कुरआँव का गाना जोड़

राजस्थान में फलौदी के पास खींचन गाँव का जलाशय शायद कुरजांओं की सबसे प्रिय जगह है। मगर उनके और भी पड़ाव हैं, और भी जगहों के खेत-जलाशय। भरतपुर, सवाईमाधोपुर आदि ज़िलों का आकाश कुरजांओं का उड़ान-पथ है। इधर के गाँवों में खेलते बच्चों की टोलियाँ परदेसी आकड़ों की लम्बी, पतली लकड़ियाँ तोड़ लेतीं। इन लम्बी हरी लकड़ियों के सिरों पर परदेसी आक के फूल लगे होते। बच्चे इन्हें ऊँचा उठाते हुए दौड़ते। फूल से कुरजांओं को छूने की कोशिश करते हुए तेज़-तेज़ आवाज़ में गाते–

कुरज-कुरज बेलाड़ा तोड़
कुरआँव-कुरआँव का गाना जोड़।

कुरजां जब उड़ती हैं तो बेल बनाकर उड़ती हैं और चाहे कितनी ही दूर उन्हें उड़ना हो वे कुरआँव-कुरआँव बोलना बन्द नहीं करतीं। भूँ-भाँ मचाती हुई जाती हैं।

आकाश में कुरजांएँ और ज़मीन पर गाँवों में घूमते विदेशी पर्यटक। ये पर्यटक भी कुरजां की तरह ही हैं। वे सवाईमाधोपुर के आसपास के गाँवों के कच्चे घरों की दीवारों पर उकेरी जानेवाली मांडना कला को देखने के लिए आते हैं। न जाने किन-किन देशों से आए ये विदेशी सैलानी दिन-दिनभर, दो-दो तीन-तीन दिन लगातार यहाँ चित्र देखते घूमते हैं। इनमें से कुछ खुद कलाकार होते हैं, कुछ फिल्म बनानेवाले और कुछ कला और कलामय जीवन के प्रेमी। और आदिवासियों के ये गाँव भी क्या खूब हैं। पृथ्वी पर एक खुला कला संग्रहालय। संसार की कोई सरकार कला का ऐसा मानव संग्रहालय नहीं बना सकती। क्या कोई सरकार प्रकृति को रच सकती है?

"भाभी थारा भाऐला आग्या।" (भाभी, तेरे दोस्त आ गए।) गुलाबी की ननद अशर्फी ने आकर खबर दी। गोरे-गोरियों का एक झुण्ड गाँव में मांडने देखने आया था। उन्होंने गुलाबी के घर के आँगन और दीवारों पर बने मांडनों के खूब फोटो लिए। गुलाबी के साथ सबने फोटो खिंचाए। फिर वे आगे बढ़ गए और घरों के मांडने देखने। चूल्हे पर दूध ओट (खौल) रहा था। गुलाबी ने एक छाणा (कण्डा) तोड़कर आधा चूल्हे में रखा। वह मुड़ी ही थी कि उसे बाखड़ में चुपचाप खड़ी एक गोरी मेम दिखाई दी। देखते ही गुलाबी की आँखों में चमक आ गई। यह गोरी मेम पिछली सर्दियों में भी आई थी। गोरी मेम ज़ोर से बोली, "हेऽऽ गुलाआऽआऽबी।"

"नाम न भूली क तू म्हारो।" (नाम नहीं भूली क्या तुम मेरा) गुलाबी ने कहा।

गोरी मेम गुलाबी को बाँहों में भरकर गले मिलते हुए बोली, "नेम नअ भुली। तुमे मेरा नेम याद।"

"अरी मारी बणां कांई खै च या रामारोडा म आद ई नरह् कांई, मैं तो भूल बडगी। कांई च थारो नांव। ओजूं बता दै।" (अरे मेरी बहन क्या कहती हो, जीवन के रामरोले में कुछ याद नहीं रहता। क्या नाम है तेरा, फिर से बता दे।) गुलाबी ने गोरी मेम से पूछा।

"नाम। नेम। माई नेम। ओ तूम भूउल ग्यई! नताशा। माइ नेम नताशा।" गोरी मेम ने बताया। नताशा ने अपने बैग से गुलाबी और उसके मांडनों के वो फोटो निकाले जिन्हें वह पिछले बरस ले गई थी। गुलाबी देख-देखकर राजी हो रही थी। नताशा गुलाबी के चेहरे की उमंग को देखकर कह रही थी, "येस, येस।"

नताशा ने आँगन में बने बड़े-बड़े मांडनों को देखकर आँखों, चेहरे के हाव-भाव से और बोलकर भी बताया, "इट्स अमेज़िंग, ब्यूटीफुल।" गुलाबी समझ गई कि उसको ये बहुत अच्छे लग रहे हैं। वह बोली, "या तो चत की चोरी च। जस्या याद

भाषा के बाहर

विनोद पदरज

आदमी आदमी से गले मिलता ही नहीं
मुस्कराता है
कि हाथ मिलाता है
पर स्त्रियाँ गले मिलती हैं सदैव
जैसे पुष्कर मेले में
उस परदेसी मेम ने
ऊँट की रास थामे खिलखिलाती जाती देसी
गोरड़ी को
इशारे से रोका
और फोटो खींचा
फिर बड़ी देर तक
माथे का बोरला
कानों के झाले
खुँगाली गले की
दाँतों की चूँप
हाथों की मेहँदी
बाँहों का चूड़ा
पाँवों की कड़ियाँ
नोकदार जूतियाँ
गोटा किनारी का लहँगा ओढ़नी देखती रही
खिलखिलाती
और जब विलग हुईं
गले मिली भींचकर
जैसे एक देश का घनीभूत दुख
दूसरे देश के मर्मांतक दुख से
गले मिला हो

आवै जस्याइ उकेर दे चां।" (यह तो चित की चोरी है। जैसा मन करता है वैसे ही चित्रित कर देते हैं।)

नताशा ने अपनी लम्बी, पतली, गोरी बाँहों को बार-बार लम्बा कर और "हाउ लॉन्ग टाइम" जैसा कुछ बोल-बोलकर बहुत कोशिश की तो गुलाबी समझ गई कि वो पूछ रही है, "घर भर में इतने सारे मांडने बने हैं, इनको बनाने में कितना समय लगा।" नताशा के इतने सारे प्रयास का जवाब गुलाबी ने एक पंक्ति में ही दे दिया, "अरी म्हारी बैणां, खांई कै च, महीना म तो सुळजांई कोनी।" (अरी मेरी बहन क्या पूछती हो, इन्हें बनाने में एक बार जो उलझते हैं, एक महीने में तो सुलझते ही नहीं।)

गुलाबी नताशा से देर तक बातें करती रही। नताशा को कितनी समझ में आई, कितनी नहीं आई, यह तो वो ही जाने। पर गुलाबी ने अपने सुख-दुख की सब बातें उससे कह दीं। नताशा "येस, येस" करती गम्भीरतापूर्वक सब सुनती रही। गुलाबी बता रही थी, "गाँव का अस्या खै चै पौळ तो ढंसरी चै। या रामजीई हो रीचै। मैं तो खूं चूं ढंसीई रहबा दै म्हारी तो।" (गाँव में ऐसा कहते हैं, तेरे मिट्टी के घर का बरामदा तो ढह रहा है और उसमें फूल पत्ते, मोर-हिरन बना-बनाकर अपने मन में ईश्वर ही हुई जा रही है। मैं कहती हूँ ढहा-फूटा जैसा भी है मेरा घर है मैं तो इसी को सजाऊँगी।)

नताशा को समझ में तो क्या आया होगा पर गुलाबी के सरल, सहज और मर्मस्पर्शी लहज़े में उसे बहुत आनन्द आया। जाने क्यों उसने अपने कानों में पहनी बालियाँ उतारकर गुलाबी को दे दीं। उसने गुलाबी की हथेलियों में उन्हें रखकर उसकी मुट्ठी बन्द कर दी।

"थारा काना का सूं म्हारौ दवाळौ न कडै। म्हारै पास तो कांई कोनै, ई सैनाणी ले जा।" (तेरे कानों की बालियों से मेरे घर में अगर दरिद्रता है तो वह दूर नहीं होगी। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। लेकिन मैं ये देती हूँ ये निशानी ले जा।) कहते हुए गुलाबी ने अपनी अँगुली से अँगूठी उतारकर नताशा की अँगुली में पहना दी। फिर वे दोनों गले मिलीं। देर तक मिलती रहीं। एक-दूसरे को छोड़ने का जी नहीं कर रहा था। गोरों का झुण्ड लौटने के लिए गाड़ी में बैठ चुका था। नताशा हाथ हिलाते हुए चली गई। गुलाबी पौंड के दरवाज़े पर खड़ी देखती रही। जैसे वह कुरजांओं (Demoiselle crane) को उड़ते देखती है, जहाँ तक वे दिखाई देती हैं। चक मक

सभी फोटोः मदन मीणा

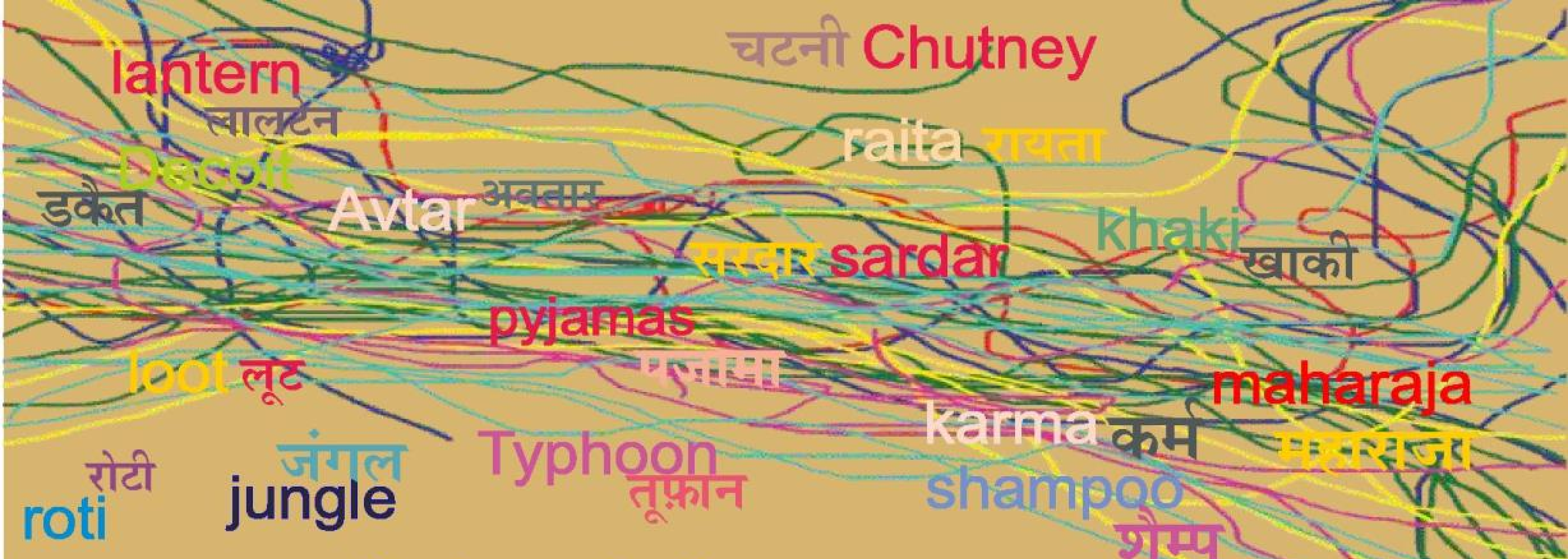

शब्द कहाँ से आते हैं?

इन्द्राणी

शैम्पू, बैंगल, कॉट – कौन-सी भाषा के शब्द हैं ये? मेरे ख्याल से तुम्हारा जवाब होगा – अँग्रेज़ी। पर अगर मैं कहूँ कि नहीं ये तो हिन्दी भाषा के शब्द हैं। तो क्या तुम मेरी बात मानोगे? शायद नहीं। असल में तुम्हारा और मेरा जवाब दोनों ही सही हैं। ये शब्द हिन्दी से अँग्रेज़ी में आए हैं। शैम्पू शब्द असल में चम्पी से, बैंगल बांगड़ी से (चूड़ी) और कॉट अपनी जानी-पहचानी खाट से। अचरज की बात है न कि रोज़मर्रा में इस्तेमाल किए जानेवाले इन अँग्रेज़ी के शब्दों की जड़ें हिन्दी में हैं।

हिन्दी बोलते या लिखते वक्त अकसर कहा जाता है कि अँग्रेज़ी के शब्दों का इस्तेमाल करना अच्छी बात नहीं है। इससे भाषा की शुद्धता पर असर पड़ता है। पर सदियों से इधर के शब्द उधर और उधर के शब्द इधर आ-जा रहे हैं। इस्पात, मिस्त्री, कमरा, परात, बालटी, साबुन, तौलिया ये सारे शब्द पुर्तगाली भाषा के हैं। इसी तरह के हज़ारों शब्दों को अब हम हिन्दी के शब्द मानते हैं।

अँग्रेज़ी में भी कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं। इनमें भारतीय भाषाओं के बहुत सारे शब्द हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि जब शब्द एक भाषा से दूसरी भाषा में जाते हैं तो उनकी ध्वनियाँ थोड़ी बदल जाती हैं। जैसा कि हमने शैम्पू, कॉट और बैंगल में देखा उसी तरह डकैत बन गया डकॉयट, बरामदा बन गया वरान्डा, बंगला बन गया बंगलो, देखना बन गया डेक्को, चिट्ठी बन गई चिट, बाँधना बन गया बैन्डाना (एक प्रकार का स्कार्फ)। और अगर तुम इंग्लैण्ड जाते हो और वहाँ नाश्ते में तुम्हें केज्जरी दिया गया तो तुम देखोगे कि वह तो अपनी जानी-पहचानी खिचड़ी है।

इसी तरह तमिल से लिया गया कट्टूमारन बन गया कैटामरान जोकि एक तरह की नाव है। मलयालम से लिया वेट्टिला बन गया बीटल यानी पान का पत्ता (बीटल लीफ) और सुपारी (बीटल नट), मलयालम के ही शब्द कयर (रस्सी) से कॉयर (नारियल की जटा) बना है।

शब्द के सफर से जुड़ी कई मज़ेदार कहानियाँ हैं। एक ऐसा ही शब्द है जोधपुर। यह राजस्थान के एक शहर का नाम है पर अँग्रेज़ी में इस शब्द का अर्थ है घुड़सवारी के लिए पहने जानेवाली एक खास पतलून। हुआ यूँ कि 1897 में जोधपुर के राजकुमार प्रताप सिंह अपनी पोलो टीम के साथ पोलो खेलने इंग्लैण्ड पहुँचे। वहाँ उन्होंने न केवल कई मैच जीते पर साथ ही उनके चूड़ीदार ने फैशन की दुनिया में सनसनी फैला दी। जल्दी ही इंग्लैण्ड के नामी सैविल रौ के दर्ज़ियों ने इस चूड़ीदार को अपने ढंग से बनाया और उसका नाम जोधपुर्स रख दिया।

एक और दिलचस्प बात यह है कि इंडोनेशिया में ऑटोरिक्शा को बजाज कहा जाता है। क्योंकि भारत की ही तरह वहाँ भी बजाज कम्पनी के ऑटो चलते हैं। इसीलिए लोगों ने इन्हें बजाज नाम दे दिया।

भाषाओं में शब्दों का भण्डार इसी तरह बढ़ता है। अँग्रेज़ी में आमतौर पर सुनाई देनेवाले गुरु, योगा, मंत्र, तंत्र जैसे शब्द दरअसल हिन्दी भाषा के हैं। और तो और हॉलीवुड की मशहूर अँग्रेज़ी फिल्म *अवतार* को कौन भूल सकता है जिसका टाइटल ही एक हिन्दी शब्द है।

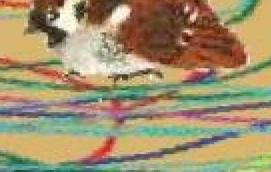

एक था हाजी
एक था नाजी

स्वयं प्रकाश

गाय का इलाज

एक बार हाजी की गाय बीमार पड़ गई। गाँव में एक ही सयाना था जो जानवरों की बीमारी वगैरह के बारे में जानता था और वह महीने भर के लिए बाहर गया हुआ था। अब हाजी क्या करता? कुछ नहीं सूझा तो वह नाजी के पास चला गया।

"हमारी गाय बीमार पड़ गई है।" हाजी बोला।

"अच्छा? यह तो बहुत बुरा हुआ। क्या हुआ है?"

"पता नहीं। चारे को मुँह नहीं लगा रही। पेट फूलकर गुब्बारा हो रहा है। हाँफ रही है और कराह रही है!"

"अच्छा? ऐसा तो एक बार हमारी गाय को भी हुआ था!"

"अच्छा? तो फिर आपने क्या किया था?"

"हमने तो ऐसा किया था कि उसके पेट पर तिल के तेल की मालिश की, गर्दन में कद्दू की बेल की माला पहना दी और पूँछ में लाल रंग का कपड़ा बाँध दिया था।"

"ठीक है। धन्यवाद!"

"हाजी घर गया और उसने ठीक वही किया जो नाजी के घर सुनकर आया था।"

लेकिन अगले दिन उसकी गाय मर गई।

दो रोज़ बाद हाजी नाजी के घर गया और बोला, "हमारी गाय बीमार थी और मैं आपके घर आया था, आपको याद है?"

"हाँ हाँ याद है। कैसी है अब आपकी गाय?"

"मैंने वही सब किया जो आपने बताया था। पेट पर तिल के तेल की मालिश की, गर्दन में कद्दू की बेल की माला पहना दी और पूँछ में लाल रंग का कपड़ा बाँध दिया था।"

"तो फिर? फिर क्या हुआ?"

"अगले दिन मर गई!"

"हाँ तो गाय तो हमारी भी मर गई थी!" नाजी ने भोलेपन से कहा।

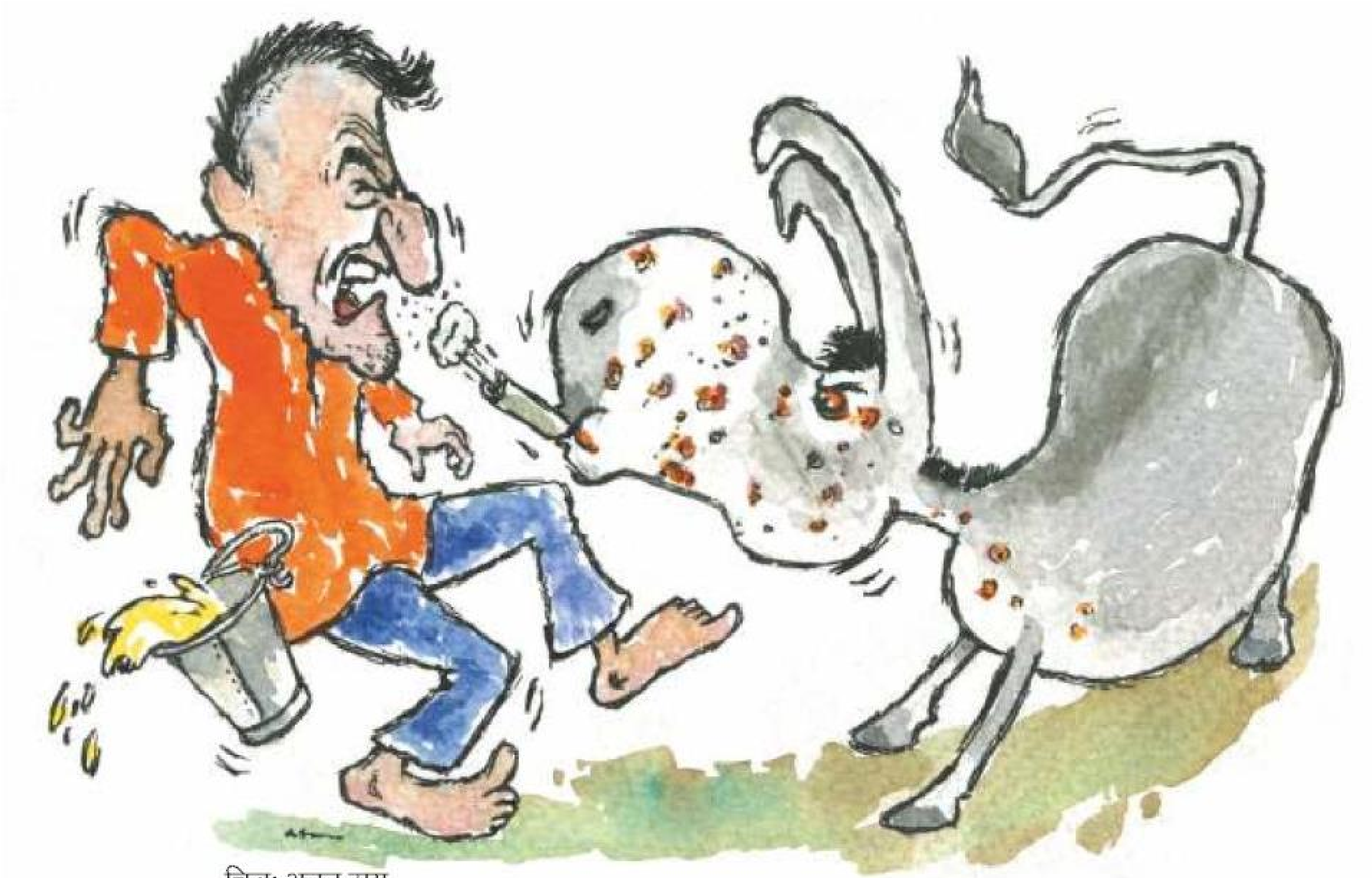

चित्रः अतनु राय

मुन्ने की दवा

हाजी कुम्हार का गधा बीमार पड़ गया। गधे के पूरे मुँह पर बड़े-बड़े फोड़े हो गए।

जब घरेलू उपचारों से काम नहीं चला तो हाजी गधे को लेकर नाजी हकीम के पास गया। हकीम साहब ने गधे का मुआयना किया और हालचाल वगैरह पूछकर तीन दिन की दवा दे दी जो करीब एक सेर चूरन जैसी थी।

हाजी ने पूछा, "इस दवा को मुन्ने को कैसे खिलाना है?"

मुन्ना गधे का नाम था।

नाजी हकीम ने कहा, "दो मुट्ठी दवा को आधी बालटी पानी में घोलकर बाँस की एक भोंगली में भर लेना और भोंगली को मुन्ने के मुँह से लगा देना। और दूसरी तरफ से ज़ोर-से फूँक मार देना। दवा मुन्ना के गले के नीचे उतर जाएगी।"

हाजी दवा लेकर चला गया।

चार रोज़ बाद हाजी कुम्हार अपने गधे को लेकर नाजी हकीम के पास पहुँचा तो गधा तो ठीक-ठाक था लेकिन हाजी कुम्हार की हालत खराब थी। सारे चेहरे पर बड़े-बड़े फोड़े हो गए थे।

हाजी कुम्हार की यह हालत देखकर नाजी हकीम खुद उठकर बाहर आए और बोले, "क्या हुआ हाजी? तुम तो मुन्ना के लिए दवा ले गए थे। पिलाई उसे? वह तो ठीक-ठाक लग रहा है तुम्हें क्या हो गया?"

"जी मुन्ना ने पहले फूँक मार दी!!" हाजी कुम्हार ने कहा।

नॉर्वे यात्रा

प्रयाग शुक्ल

नवम्बर से फरवरी-मार्च तक के वे दिन-महीने बर्फीले भी होंगे। सर्द। बर्फ गिरेगी। जमेगी।

एक बहुत लम्बा दिन

यह एक बहुत लम्बा दिन है जो बीतता ही नहीं है। तारीखें बदल जाती हैं, पर यह अपनी जगह रहता है। उजाले से भरा हुआ। बस कभी-कभी बादल आ जाते हैं। बूँदा-बाँदी होती है। फिर धूप निकल आती है। रात का समय हो जाता है, पर रात का अँधेरा कहीं दिखाई नहीं पड़ता। हम खिड़कियों पर मोटे परदे लटकाकर सो जाते हैं। पर अगर "रात" को नींद टूट जाए और हम खिड़की के परदे को ज़रा-सा हटा दें, तो दिन का ही उजाला दिखता है। कभी देर रात किसी रेस्तराँ-होटल से खा-पीकर लौटें, बस या टैक्सी में, तो भी यह नहीं लगता कि हम "रात" को घर लौट रहे हैं।

यह लम्बा दिन हमने बिताया 23 मई 2013 से 9 जुलाई 2013 तक, त्रांदाइम में। यह नॉर्वे का एक शहर है। यहाँ हमारी बेटी वर्षिता वेंकटेश रहती है। त्रांदाइम बहुत सुन्दर लगता है। घरों-बगीचों में रंग-बिरंगे फूल खिले होते हैं। यहाँ वैसे ही घर हैं जैसे हमारे यहाँ पहाड़ों में होते हैं – शिमला-सोलन आदि में। वैसे अब तो हमारे यहाँ पहाड़ों में भी लोगों ने सीमेंट-कंक्रीट के घर बना डाले हैं – दिल्ली, मुम्बई जैसे बहुमंज़िले घर। पर, त्रांदाइम में और नॉर्वे के दूसरे शहरों में ऐसा नहीं है। घरों में लकड़ी का इस्तेमाल बहुतायत से होता है। और वैसी ही "खपरैली-सी" छतें हैं, जैसी पहाड़ी घरों में होती हैं। वैसे नॉर्वे है भी पहाड़ियों, समुद्री पानी, झीलों, नदियों और वन-उपवनों का देश। समुद्र की मुख्य धारा से अलग होकर जो पानी कहीं और फैल जाता है, उसे यहाँ "फ्योर्ड" कहते हैं। उस पर जहाज़ और स्टीमर भी चलते हैं। ये शहरों से बिलकुल लगे हुए हैं। किसी घर की ऊँचाई या खिड़की से, जब वह पानी हम देखते हैं, साफ आकाश के नीचे तो मन खुश हो जाता है।

बहरहाल तो यह जो लम्बा दिन था उसमें रात में चिड़ियाँ भी बोलती थीं। इस दिन में उनका अपना भी सोने-जागने का समय होगा, उसका कोई तरीका होगा, जैसा हमारा था – खिड़की पर गाढ़े पर्दे लगाकर सोने का। जब मई-जून-जुलाई में रात में भी धूप निकली होती है तो नॉर्वेवासी इसका पूरा फायदा उठाते हैं। क्योंकि उन्हें मालूम है कि गर्मियों के बाद जो अगले महीने होंगे, नवम्बर से फरवरी-मार्च तक के, उनमें लम्बे दिन के बदले एक लम्बी-सी रात हुआ करेगी। दिन में अगर पूरा अँधेरा नहीं तो अँधेरा-सा रहा करेगा और रात तो अँधेरी होगी ही। वे दिन-महीने बर्फीले भी होंगे। सर्द। बर्फ गिरेगी। जमेगी। सम्भलकर चलना-फिरना होगा। घर के सामने की बर्फ खुद साफ करनी होगी। तब बाहर इतना घूमना-फिरना कहाँ होगा! सो, अभी इस

समुद्र की मुख्य धारा से अलग होकर जो पानी कहीं और फैल जाता है, उसे यहाँ "फ्योर्ड" कहते हैं। उस पर जहाज़ और स्टीमर भी चलते हैं।

लम्बे-से दिन में वे दिन-रात घूमते-फिरते हैं। सचमुच। बाज़ार, दुकानें, मॉल आदि भले ही रात नौ बजे बन्द हो जाएँ, पर, रेस्तराँ, होटल, काफी देर रात तक खुले रहते हैं।

इन दिनों वहाँ छोटे-छोटे पीले फूल भी खूब नज़र आते हैं, जिनका नाम डैंडेलिआंस है। इनका रूप कुछ-कुछ सूर्यमुखी के फूल जैसा है, पर ये नन्हे-से होते हैं। सो मैं इन्हें "नन्हे सूरजमुखी" कहकर पुकारता हूँ। ये जंगली फूल हैं। कहीं भी उग आते हैं। सड़क किनारे, घास के बीचोंबीच, टीलों-पहाड़ियों पर, बस स्टॉप, रेल पटरी के किनारे कहीं भी। घरों के सामने, उनके इर्द-गिर्द भी ये खूब मिलते हैं। मेरी बेटी की मकानमालकिन इनगुन जब घास सँवारनेवाली मशीन से हर दो-चार दिन में घास की कतर-ब्योंत करती थीं तो घास के बीच उग आए ये डैंडेलिआंस मशीन की चपेट में आकर लुढ़क जाते थे। और खरपतवार की तरह फेंक दिए जाते थे। पर, ये फिर उग आते थे दो-चार दिन के भीतर ही। कहते हैं, बर्फीले दिनों में ये फूल और दूसरे फूल भी बर्फ के नीचे दब जाते हैं। घास भी दब जाती है। पर, गर्मियाँ आने से पहले ही, ज्यों-ज्यों बर्फ पिघलती है, ये फिर सिर उठाने लगते हैं। और सूचना देते हैं मानो उजाले के दिन वापस आनेवाले हैं। इसलिए नॉर्वेवासी इन्हें पसन्द भी खूब करते हैं। इन जंगली फूलों के अलावा, इन दिनों यहाँ के हर घर, हर पार्क, चौराहे, बाज़ार में भी कई तरह के रंग-बिरंगे फूल दिखाई पड़ते हैं। और हर जगह फूलों की दुकानें भी ज़रूर मिलती हैं। फूलों के साथ गमले और मोमबत्तियाँ भी बेची जाती हैं। नॉर्वे में लोग पेड़ों के तने के पास भी फूल उगाते हैं। यहाँ घरों में कई जगह भाँति-भाँति के छोटे-बड़े गमले दिख जाएँगे। और खाने की मेज़ पर मोमबत्तियाँ ज़रूर रखी मिलेंगी।

वहाँ छोटे-छोटे पीले फूल भी खूब नज़र आते हैं

नॉर्वे में इन दिनों छोटी-बड़ी चिड़ियाँ भी खूब दिखती हैं – घरों के आस-पास, बाज़ार-पार्कों में जहाँ उन्हें खाने को दाने मिलते हैं। सीगल भी खूब दिखती हैं। उनकी बोली कुछ कठिन-कठोर

ओंडाल्सनेस में केबिन यानी कॉटेजनुमा कमरे

है। झरनों, नदियों, झीलों और समुद्री पानी के इस देश में जिधर भी जाएँ, आपको शुद्ध हवा, खूब-खूब नीला आसमान और उस में टिके उजले-सफेद बादल मिलेंगे। पहाड़-पहाड़ियाँ-हरी घास तो हैं ही। शहरों-सड़कों में जो कारें दौड़ती हैं, उनके ऊपर अकसर लपेटी हुई एक बोट बँधी होती है। क्या पता कब मन शहर से बाहर किसी नदी किनारे बिताने का हो आए! हम ओंडाल्सनेस नाम के एक पहाड़ी पर्यटन स्थल पर भी गए। यह त्रांदाइम से कुछ घण्टों की दूरी पर है – रौमा नदी के किनारे। मेरी बेटी ने वहाँ दो दिनों के लिए एक "केबिन" बुक कर लिया था। "केबिन" यानी कॉटेजनुमा कमरे, जिनमें रसोई के साधन भी होते हैं। आप चाहें तो खुद बनाइए-खाइए। कई लोगों के अपने निजी केबिन भी होते हैं। वहाँ गए, कुछ दिनों की छुट्टियाँ बिताईं और लौट आए। हमने यहीं वे कैरेवान भी देखे, जो एक बड़ी कार या मिनी बस के आकार-प्रकार के थे। इनमें भी लोग रहने-घूमने की व्यवस्था करते हैं। घरों-मकानों में लकड़ी का इस्तेमाल बहुतायत से होता है। ओंडाल्सनेस में हमने रौमा नदी पर एक छोटा-सा पुल देखा जिसके खम्भे तो लोहे के थे पर उन पर लकड़ी की पत्तरें मढ़ दी गई थीं। जिससे वे सुन्दर लगें। साइकिलों पर लोग सैर भी करते हैं, और आने-जाने के काम में भी लाते हैं। प्रायः हर घर में छोटी-बड़ी साइकिलें रहती हैं। नॉर्वे के तटों पर बड़े-बड़े जहाज़ रुकते हैं। एक दिन हम एक जहाज़ पर नाश्ता करने गए। अगर आप दोपहर 12 बजे से पहले पहुँचे तो जहाज़ के कैफेटेरिया से नाश्ता खरीद सकते हैं। जहाज़ पर घूम-फिर भी सकते हैं। आनन्द आया।

मुंक का "चीख" शीर्षक चित्र दुनियाभर में प्रसिद्ध है।

हम ऑस्लो भी गए जो नॉर्वे की राजधानी है। यह वहाँ का सबसे बड़ा शहर भी है। हम वहाँ भारतीय चित्रकार अम्बादास की पत्नी हेगे के साथ ठहरे। अम्बादास अब इस दुनिया में नहीं हैं। हेगे नॉर्वेजियाई हैं, फोटोग्राफी करती हैं और इस विद्या में "चित्रों" की रचना भी। ऑस्लो में हमने नॉर्वे के महान चित्रकार एडवर्ड मुंक (1863-1944) की एक बड़ी प्रदर्शनी देखी। यह उनकी डेढ़ सौवीं जयन्ती पर लगाई गई थी।

इसे देखने के लिए लोग दुनियाभर से आते हैं। मुंक का "चीख" शीर्षक चित्र दुनियाभर में प्रसिद्ध है। उन्होंने सैकड़ों की संख्या में लोगों के और अपने भी पोट्रेट बनाए

(शेष भाग पेज 42 पर)

बोली रंगोली

चाहे तो आसमान पलट सकती है हवा
पन्ना पलट सकेगी क्या मेरी किताब

प्रशंसनीय पन्द्रह चित्र

मुस्कान अग्रहारी, 8वीं, संगम इंटरनेशनल स्कूल, प्रतापगढ़

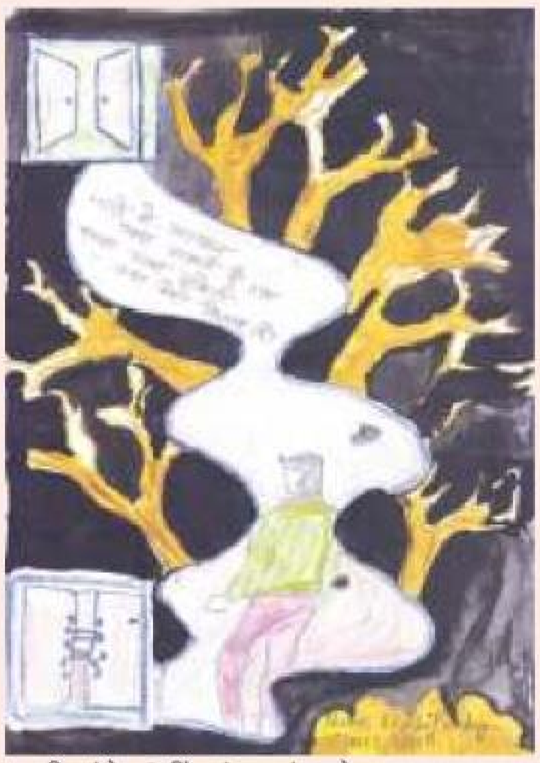

खुशी पांडे, 8वीं, संगम इंटरनेशनल स्कूल प्रतापगढ़

अग्निश्वर दासमित्रा, नवीं, लक्ष्मणगढ़, सीकर

भागचंद्र गुर्जर, पाँचवीं, टोंक, राजस्थान

अंकुश कुमार, किलकारी बिहार बालभवन, पटना

क्षितिज जैन, चौथी, डीपीएस, लुधियाना

आदित्य छेड़ा, 8वीं, शिशुवन, मुम्बई

सोनाली गुप्ता,
किलकारी बिहार बालभवन, पटना

भाविनी शंकर, आर्किड स्कूल, पूना

जे. धसरना, पाँचवीं, डीपीएस, कोयम्बटूर

तुलसी, मुस्कान, भोपाल

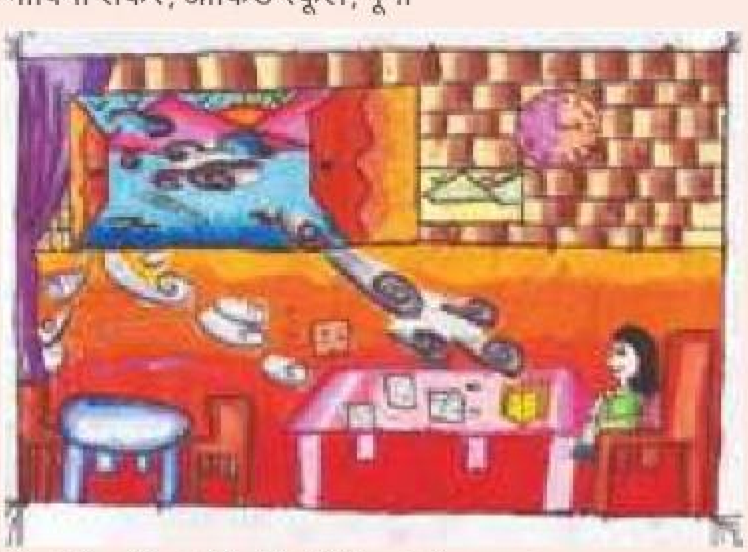

रिया बोकाड़िया, पाँचवीं, डीपीएस कोयम्बटूर

आर. दीपेश, डीपीएस कोयम्बटूर

प्रीति, छठीं, नेहरू इंग्लिश स्कूल, नाँदेड़

धरती गर्म होगी तो चमगादड़ों की शामत आएगी

सुशील जोशी

पहले तीन ऐसी बातें जो हम जानते हैं–

यह तो सभी जानते हैं कि चमगादड़ स्तनधारी जीव होते हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि ये चीज़ों की स्थिति और दूरी पता लगाने के लिए आँखों की नहीं बल्कि कानों की मदद लेते हैं। बात कुछ ऐसी है – चमगादड़ कुछ आवाज़ पैदा करेंगे, फिर इन्तज़ार करेंगे कि वह किसी चीज़ से टकराकर लौटती है या नहीं। यदि वह नहीं लौटती तो इसका मतलब है कि सामने रास्ता साफ है। यदि वह लौटती है तो चमगादड़ को ध्यान देना होगा कि वह कितनी देर में लौटी है। इससे पता चलेगा कि रास्ते में कोई चीज़ है जिससे टकराकर आवाज़ लौट रही है और समय से पता चलेगा कि वह चीज़ कितनी दूर है। थोड़ी और अच्छी तरह से विश्लेषण करेंगे तो यह भी पता चल सकता है कि वह चीज़ कितनी बड़ी है, कितनी सख्त है वगैरह। खैर यह तो हम नहीं जानते कि चमगादड़ लौटती प्रतिध्वनि की मदद से क्या-क्या पता कर लेते हैं मगर इतना तय है कि उनके लिए आवाज़ निकालना और उसकी प्रतिध्वनि को सुनना बेहद महत्वपूर्ण है।

अब यदि धरती का तापमान बढ़ता है और प्रतिध्वनि के लौटकर आने में अब उतना समय नहीं लगेगा जितना पचास साल पहले लगता था। तो चमगादड़ तो चलने-फिरने से मोहताज हो जाएँगे!

चमगादड़ की हर प्रजाति एक-सी ध्वनि पैदा नहीं करती। कुछ चमगादड़ काफी तीखी आवाज़ पैदा करते हैं जबकि कुछ चमगादड़ों की आवाज़ मोटी होती है। वास्तव में चमगादड़ जो आवाज़ें निकालते हैं वे हम सुन ही नहीं सकते। इन्हें मोटी-पतली कहना ठीक नहीं है। हम यही कह सकते हैं कि विभिन्न चमगादड़ों की आवाज़ की आवृत्ति कम या ज़्यादा होती है।

अब दूसरी बात। हवा में ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कुछ समय लगता है। यदि हवा गर्म हो तो ध्वनि की चाल थोड़ी बढ़ जाती है। चाल पर तापमान का यह असर कम आवृत्तिवाली ध्वनि पर अधिक होता है और ऊँची आवृत्ति की ध्वनि पर कम होता है। यानी यदि हवा गर्म होगी तो ध्वनि एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कम समय लेगी और कम आवृत्ति की ध्वनि को और भी कम समय लगेगा।

यह भी देखा गया है कि गर्म हवा में कम आवृत्तिवाली ध्वनि थोड़ी ज़्यादा दूर तक जाती है जबकि अधिक आवृत्तिवाली ध्वनि उतनी दूर तक नहीं जाती।

तीसरी बात। कई कारणों से धरती का तापमान बढ़ रहा है। इनमें से सबसे प्रमुख कारण है कि हम घरों में, कारखानों में, और वाहनों में जो पैट्रोल, डीज़ल, मिट्टी का तेल, गैस जलाते हैं उससे पैदा होनेवाली कार्बन डाईऑक्साइड वायुमण्डल में इकट्ठी हो रही है। वायुमण्डल में जब कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा बढ़ती है तो सूरज की जो किरणें पृथ्वी पर आती हैं, उन्हें वापिस जाने में दिक्कत होती है। इसलिए धरती गर्म होने लगती है। पिछले कई वर्षों में वायुमण्डल में कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा भी खूब बढ़ी है और धरती का तापमान भी बढ़ने लगा है।

अब थोड़ा सोचें। चमगादड़ देखने-सुनने, शिकार पकड़ने, घूमने-फिरने, साथी की तलाश के लिए ध्वनि पर निर्भर हैं। वे इन आवाज़ों और इनकी प्रतिध्वनियों के माध्यम से लाखों सालों से अपने पर्यावरण में चलते-फिरते, खाते-पीते रहे हैं। यह तो ज़रूर हुआ होगा कि प्रत्येक किस्म के चमगादड़ के शरीर में ऐसी व्यवस्था बनी होगी कि वे समझ सकें कि प्रतिध्वनि को लौटने में कितना समय लगने पर कोई वस्तु कितनी दूर होगी। अब यदि धरती का तापमान बढ़ता है और साथ में हवा का भी, तो आवाज़ की चाल में अन्तर आ जाएगा। प्रतिध्वनि के लौटकर आने में अब उतना समय नहीं लगेगा जितना पचास साल पहले लगता था। तो चमगादड़ तो चलने-फिरने से मोहताज हो जाएँगे! वैसे तो चमगादड़ तापमान के साथ थोड़ा-बहुत तालमेल बना लेते हैं। उन्हें दिन और रात के अलग-अलग तापमान के साथ जीना पड़ता है और अलग-अलग मौसमों में अलग-अलग तापमान को भी वे सम्भाल लेते हैं। मगर यदि यह तापमान एक हद से ज़्यादा बढ़ेगा तो मुश्किल होगी।

हवा में जब ध्वनि फैलती है तो उसकी तीव्रता में भी कमी आती है। कहने का मतलब यह है कि ध्वनि फैलते-फैलते मद्धिम या दुर्बल पड़ती जाती है। तापमान बढ़े तो यह प्रक्रिया भी तेज़ हो जाती है।

ये सब बातें मिलकर चमगादड़ों के "देखने" की क्षमता पर अलग-अलग असर डालेंगी। जैसे कम आवृत्ति की ध्वनि का उपयोग करनेवाले चमगादड़ शायद फायदे में रहेंगे क्योंकि उनकी आवाज़ ज़्यादा दूर तक जाएगी। यानी गर्म वातावरण में वे ज़्यादा दूर तक की चीज़ों को ताड़ सकेंगे। मगर ध्वनि की गति के मामले में सारे चमगादड़ों को प्रतिध्वनि के लौटने में लगे समय और दूरी का समीकरण फिर से सीखना पड़ेगा।

राजेन्द्र धोड़पकर गुगली

मेरी प्यारी बेटी,

अब जब तुम दस साल की हो गई हो, तो मैंने सोचा क्यों न तुम्हें उन सब के बारे में लिखूँ जिन्हें मैं बहुत ज़रूरी मानता हूँ। तुमने कभी ध्यान दिया है कि हमें जो बहुत-सी चीज़ों के बारे में पता है, उनके बारे में हमें पता कैसे चला! जैसे हमें कैसे पता चला कि आकाश में जो छोटे-छोटे तारे टिमटिमाते नज़र आते हैं असल में सूरज की तरह आग के बड़े-बड़े गोले हैं और हमसे बहुत-बहुत दूर हैं। और यह भी कि पृथ्वी एक छोटी-सी गेंद की तरह इन्हीं में से एक सूरज नाम के तारे के आसपास चक्कर काट रही है!

इन सवालों का एक जवाब है "सबूत या प्रमाण" (evidence)।

कभी-कभी यह प्रमाण हमें किसी चीज़ को देखकर (या सुनकर, सूँघकर या उसे महसूस कर) ही मिलता है। जैसे, पृथ्वी की गोलाई को अपनी आँखों से देखने के लिए अन्तरिक्ष यात्रियों ने दूर तक का सफर किया। पर कभी-कभी हमारी आँखों को मदद की ज़रूरत होती है। जैसे, शाम के आकाश में जो एक तेज़ चमकता तारा नज़र आता है, दूरबीन से एक खूबसूरत गेंद जैसा देखता है – इसे हम शुक्र ग्रह के नाम से जानते हैं। चीज़ों के बारे में देखकर (या सुनकर या महसूस करके) पता लगाना – अवलोकन (observation) कहलाता है।

लेकिन सबूत हमेशा दिखाई नहीं देते – बल्कि जो दिखाई देता है उससे सबूत बनाए जाते हैं। जैसे, अकसर किसी हत्या को होता देखा तो दो ही लोगों ने होता है – खूनी और मरनेवाले ने। पर जासूस बहुत सारी ऐसी चीज़ें देखते हैं जो संदिग्ध व्यक्ति की तरफ इशारा कर सकती हैं। अगर उस व्यक्ति की उँगलियों के निशान, छुरे पर मिले निशानों से मेल खा जाएँ तो यह इस बात का सबूत है कि उस ने छुरे को छुआ था। हाँ, इससे यह साबित नहीं होता कि वही खूनी है, पर अगर इसे दूसरे कई सबूतों की कड़ियों से जोड़ा जाए तो किसी नतीजे पर पहुँचने में मदद मिल सकती है। कभी-कभी बहुत सारी देखी चीज़ों के बारे में सोचते हुए जासूस को अचानक लग सकता है कि इन सारी घटनाओं में एक तार्किक सम्बन्ध तभी हो सकता है अगर फलाँ व्यक्ति ने खून किया है।

अकसर ब्रह्माण्ड के सचों की खोज करनेवाले वैज्ञानिक जासूसों की तरह काम करते हैं। वो अनुमान लगाते हैं (जो अवधारणा या हाइपोथिसिस कहलाता है) कि फलाँ बात सच हो सकती है। फिर वो खुद से कहते हैं कि अगर यह सचमुच सच है तो, हमें फलाँ-ढिकाँ देखने को मिलना ही चाहिए। इसे पूर्वानुमान (prediction) लगाना कहते हैं। उदाहरण के लिए, अगर दुनिया वाकई गोल है, तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि एक ही दिशा में चलता

शिल्पः सूसन लोरडी

यात्री एक दिन उसी जगह ज़रूर आ पहुँचेगा जहाँ से उसने शुरुआत की थी। जब डॉक्टर कहता है कि तुम्हें खसरा हुआ है तो पहली ही नज़र में ही उसे वो नज़र नहीं आ जाता। असल में पहली बार देखने पर वो अन्दाज़ लगाता है कि खसरा हो सकता है। फिर वो खुद से कहता है कि अगर सचमुच खसरा है तो तुममें फलाँ-फलाँ लक्षण नज़र आने चाहिए। फिर वो एक-एक कर उनकी जाँच करेगा – वो देखेगा (कि क्या शरीर पर दाने दिख रहे हैं), छुएगा (कि कहीं तुम्हें बुखार तो नहीं) और सुनेगा (तुम्हारे सीने से कैसी आवाज़ आ रही है?)। इसके बाद ही वो इस नतीजे पर पहुँचेगा और कहेगा कि, मैंने पाया है कि बच्चे को खसरा है। कभी-कभी डॉक्टर को खून की जाँच या एक्स-रे आदि की भी ज़रूरत पड़ती है। इन जाँचों के नतीजे उसकी आँखों, हाथों और कानों को observation करने में मदद करते हैं।

वैज्ञानिक दुनिया को जानने-समझने के लिए जिस तरह से प्रमाणों का इस्तेमाल करते हैं वो तरीका बड़ा जटिल और सूझबूझ भरा होता है। मेरे लिए उसे इस छोटे-से पत्र में समझा पाना मुश्किल है। पर अब मैं तथ्य या सबूतों से हटकर आगे बढ़ता हूँ। और तुम्हें किसी भी बात को मानने के तीन बुरे कारणों के बारे में चेताना चाहता हूँ। ये कारण हैं – "परम्परा" (tradition), "प्रभुत्व या सत्ता" (authority) और "प्रकटीकरण या इलहाम।" (revelation)

पहले, परम्परा। कुछ महीने पहले, मैं लगभग पचास बच्चों के साथ चर्चा के लिए एक टी. वी. कार्यक्रम में शामिल हुआ। ये बच्चे अलग-अलग धर्मों में पले-बढ़े थे – ईसाई, यहूदी, मुसलमान, हिन्दू, सिख आदि। माइक्रोफोनवाला आदमी एक-एक बच्चे के पास जाता और पूछता कि वे किन-किन बातों पर विश्वास या यकीन करते हैं। "परम्परा" से मेरा मतलब ठीक वही है जो उन्होंने कहा। उनके विश्वासों का प्रमाणों या सबूतों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने बस पीढ़ियों से चली आ रही मान्यताओं को आँख मूँदकर अपनाया था।

वे बोलते – हम हिन्दू मानते हैं कि...। हम मुसलमानों का मानना है कि... हम ईसाईयों का विश्वास है कि...। बेशक, उनके विश्वास एक-दूसरे से एकदम अलग थे। और इसलिए वे सभी सही हो भी नहीं सकते। हो सकता है कि माइक्रोफोनवाले आदमी के लिए यह बड़ी सामान्य बात हो। तभी तो उसने उनके विश्वासों की विभिन्नताओं पर उनमें बहस करवाने की ज़रूरत नहीं समझी। पर यहाँ मैं जो बात कहना चाहता हूँ वो यह नहीं! मैं तो बस यही जानना चाह रहा था कि उनकी ये मान्यताएँ, ये विश्वास आए कहाँ से। वो परम्पराओं से आए। परम्परा यानी उनके दादा-दादियों से माता-पिता को और फिर उनसे उनके बच्चों को पीढ़ी दर पीढ़ी मिलते रहनेवाले विश्वास। या फिर धर्मग्रन्थों से सदियों से चली आ रही मान्यताएँ। पारम्परिक मान्यताएँ अकसर यूँ ही शुरू हो जाती हैं। शायद शुरू में उन्हें किस्से-कहानियों के रूप में लिखा गया हो। पर फिर कई पीढ़ियों तक एक से दूसरे तक आते रहने से वे इतने पुराने हो जाते हैं कि उनका पुराना होना ही उन्हें खास बना देता है। इतनी सदियों से लोग इन्हें मानते आए हैं तो इनमें कुछ खास होगा ही – यह बात लोगों को इतनी जँचती है कि वे भी बिना सवाल किए इन पर यकीन करने लगते हैं। यह परम्परा है। परम्परा के साथ यही दिक्कत है कि इसमें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि कहानी कितने समय पहले की है या वो

अब भी उतनी ही सच्ची या गैर सच्ची है जितनी लिखे जाने के वक्त थी। अगर कोई ऐसी कहानी जो सच नहीं है, तो चाहे वो कितनी ही शताब्दियों से एक से दूसरी तक पहुँचती रहे – वो सच नहीं बना सकती!

मैं परम्परा पर फिर से आऊँगा। पर पहले किसी भी बात को मानने के दूसरे दो बुरे कारणों "सत्ता या प्रभुत्व" और "ईश्वर का कहा या इलहाम" पर बात करूँगा। सत्ता की वजह से किसी बात को मानने का मतलब है उसे मानना क्योंकि किसी बड़े ओहदेवाले व्यक्ति ने तुम्हें ऐसा करने को कहा है। रोमन कैथोलिक चर्च में, पोप सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है, और लोग उसे सिर्फ इसलिए सही मानते हैं क्योंकि वो पोप है।

बेशक, विज्ञान में भी, कभी-कभी हम खुद प्रमाणों को देख नहीं पाते हैं और हमें किन्हीं दूसरों के शब्दों पर यकीन करना पड़ता है। जैसे मैंने अपनी आँखों से इस तथ्य को नहीं देखा कि प्रकाश की गति 1,86,000 मील प्रति सैकण्ड है। इसके लिए मुझे किताबों में लिखे को मानना पड़ता है। हो सकता है कि यह भी "प्रभुत्व" की तरह लगे। पर यह प्रभुत्व से कहीं बेहतर है क्योंकि जिन लोगों ने किताबें लिखी हैं उन्होंने इसके प्रमाण देखे हैं और कोई भी, कभी भी इन प्रमाणों को देख सकता है। पर पादरी तक इस बात का दावा नहीं करते कि मदर मैरी के सशरीर स्वर्ग जानेवाली उनकी कहानी के पीछे कोई प्रमाण है।

किसी पर विश्वास करने का तीसरा बुरा कारण है "इलहाम"। अगर तुमने पोप से पूछा होता कि उन्हें कैसे पता चला कि मैरी का शरीर स्वर्ग चला गया है तो हो सकता है कि वो कहते उन्हें इसका इलहाम हुआ है। खुद को कमरे में बन्द करके

अगली बार जब तुम्हें कोई कुछ कहे और तुम्हें लगे कि यह महत्वपूर्ण है तो अपने आप से पूछना कि क्या यह उसी किस्म की बात है जिसे लोग प्रमाणों के ज़रिए ही जान पाते हैं?

उन्होंने प्रार्थना की। वो खुद ही खुद में सोचते रहे, सोचते ही रहे – अन्दर ही अन्दर। और अन्दर ही अन्दर उनका यकीन बनता गया। जब धार्मिक लोगों के अन्दर यह भावना आती है कि कोई बात सच है, तो वे इस भावना को इलहाम कहते हैं। तुम्हीं सोचो क्या किसी बात पर यकीन करने का यह कोई अच्छा कारण है? मान लो कि मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हारा कुत्ता मर गया है। तुम बहुत उदास हो जाओगी। हो सकता है कि तुम पूछो क्या आपको पक्का पता है? आपको कैसे पता चला? ये कैसे हुआ? मान लो कि इस पर मैं जवाब देता हूँ कि मुझे वाकई में नहीं पता है कि पेपे (कुत्ता) मर गया है। मेरे पास इसका कोई सबूत नहीं है। पर मेरे बहुत अन्दर अजीब-से भाव आए कि वो मर गया है। हो सकता है कि इसे सुनकर तुम मुझ पर गुस्साओ। क्योंकि तुम जानती हो कि सिर्फ भीतर के कहने मात्र से यह मान लेना कि कुत्ता मर गया है गलत है। इसके लिए सबूत चाहिए होते हैं। हम सभी के अन्दर समय-समय पर भावनाएँ जागती हैं। कभी-कभी वो सही भी हो जाती हैं और कभी-कभी गलत भी। वैसे, अलग-अलग लोगों की भावनाएँ एक-सी नहीं होतीं। तो फिर तय कैसे करें कि किसी की भावना सही है और किसकी नहीं! कुत्ता मर गया है इस बात को पक्के तौर पर मानने का एक मात्र तरीका है – उसे मरा हुआ देखना या उसकी दिल की थमी धड़कन सुनना या फिर कोई ऐसे व्यक्ति से उसके

मरने की खबर सुनना जिसने उसकी मृत्यु होने के असल सबूत देखे या सुने हैं।

भीतर की भावनाएँ विज्ञान में भी महत्व रखती हैं। पर सिर्फ आइडिया देने के स्तर तक। इन आइडिया को बाद में सबूत/तथ्यों के हिसाब से परखना ज़रूरी है। वैज्ञानिक हर समय भीतर के विचारों को आइडिया ढूँढने के लिए इस्तेमाल करते हैं। पर वे किसी काम के नहीं होते जब तक उन्हें किसी पुख्ता सबूत का सहारा न हो।

मैंने वादा किया था कि मैं परम्पराओं पर वापस आऊँगा और उन्हें थोड़ी अलग तरह से देखूँगा। मैं यह समझाने की कोशिश करूँगा कि आखिर परम्पराएँ हमारे लिए इतनी महत्वपूर्ण क्यों हैं। सभी जानवर विकास की प्रक्रिया द्वारा उन सभी सामान्य जगहों पर जीने के लिए बने हैं जहाँ उन जैसे प्राणी रहते हैं। शेर अफ्रीका के मैदानों में, वहीं झींगे समुद्र के खारे पानी में अच्छे से रह पाते हैं। मनुष्य भी जानवर है। इसलिए वो भी खूब सारे लोगों के बीच ही अच्छे से रह पाता है। हम में से ज़्यादातर लोग शेर या झींगों की तरह अपने खाने के लिए शिकार नहीं करते – हम उसे दूसरे लोगों से खरीदते हैं और वो लोग भी उसे किसी और से खरीदते होंगे। हम "लोगों के समुद्र" में "तैरते" हैं। जिस तरह मछली को पानी में जीने के लिए गलफड़ों (gills) की ज़रूरत होती है उसी तरह लोगों को दूसरे लोगों के साथ रिश्ते बनाने के लिए दिमाग की ज़रूरत होती है। जिस तरह समुद्र खारे पानी से भरा होता है उसी तरह लोगों का समुद्र मुश्किल चीज़ों को सीखने से भरा होता है। जैसे भाषा।

तुम अँग्रेज़ी बोलती हो पर तुम्हारा दोस्त जर्मन बोलता है। तुम दोनों ही वो भाषा बोलते हो जो तुम दोनों को अपने-अपने "लोगों से भरे समुद्र" में तैरने में मदद करती है। भाषा हमें परम्परा से मिलती है। इंग्लैंड में Pepe कुत्ता है तो जर्मनी में ein hund। ये दोनों ही शब्द सही हैं। दोनों ही हमें हमारे बाप-दादाओं से मिले हैं। अपने-अपने लोगों से भरे समुद्र में अच्छी तरह से तैरने के लिए बच्चों को अपने देश की भाषा और लोगों के बारे में बहुत कुछ सिखाना ही होता है। तुम कह सकती हो कि एक सोख्ता कागज़ की तरह उन्हें ढेर सारी पारम्परिक बातों को अपने अन्दर सोखना होता है। पर अब तुम्हीं बोलो क्या बच्चों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वो भाषा सीखने जैसी अच्छी और उपयोगी पारम्परिक बातों और भूत-पिशाच पर यकीन करने जैसी बुरी और बेतुकी पारम्परिक बातों के बीच भेद कर सकते हैं?

यह दुखद है पर क्या करें ऐसा ही होता आया है। बच्चे अपने बड़ों की कही सही-गलत, बेतुकी – सभी तरह की बातों को सोखते जाते हैं। अब जब ये बच्चे बड़े हो जाते हैं, वो क्या करते हैं? बेशक वो अपनी अगली पीढ़ी के सामने उन्हें दोहरा देते हैं। एक बार लोग अगर किसी चीज़ को मानने लग जाते हैं (फिर भले ही वो पूरी तरह झूठी हो और उसे मानने का कोई कारण ही न हो) तो फिर उसे मानते ही चले जाते हैं।

क्या ऐसा ही धर्म के साथ भी होता है? मानना कि ईश्वर है, स्वर्ग है। मानना कि दुआओं का असर होता है। इन में से किसी एक भी मान्यता के पीछे कोई मानने लायक तथ्य नहीं है। फिर भी करोड़ों लोग इन्हें मानते चले जाते हैं। हो सकता है कि जब वे छोटे रहे हों तब उन्हें ऐसा मानने के लिए कहा गया हो।

लाखों दूसरे लोग एकदम अलग-अलग बातों पर यकीन करते हैं क्योंकि जब वे बच्चे थे तब उन्हें ऐसा करने को कहा गया था।

तो ऐसी स्थिति में हम क्या कर सकते हैं? तुम्हारे लिए कुछ करना आसान नहीं होगा, क्योंकि तुम अभी सिर्फ दस साल की हो। पर तुम यह करके देखना – अगली बार जब तुम्हें कोई कुछ कहे और तुम्हें लगे कि यह महत्वपूर्ण है तो अपने आप से पूछना कि क्या यह उसी किस्म की बात है जिसे लोग प्रमाणों के ज़रिए ही जान पाते हैं? या फिर इसे मानने के पीछे कारण परम्परा, प्रभुत्व या इलहाम हैं! और अगली बार कोई कहे कि फलाँ-फलाँ बात एकदम सच है तो उससे पूछ ही लेना कि कोई सबूत है तुम्हारे पास! और अगर वो तुम्हें विश्वास करने लायक जवाब न दे पाए तो मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम उनके कहे पर भरोसा करने से पहले अच्छी तरह से सोचोगी।

बहुत-बहुत प्यार के साथ,

तुम्हारा पिता

साभार: रिचर्ड डॉकिन्स की किताब द डेविल्स चैप्लिन का एक सम्पादित अंश

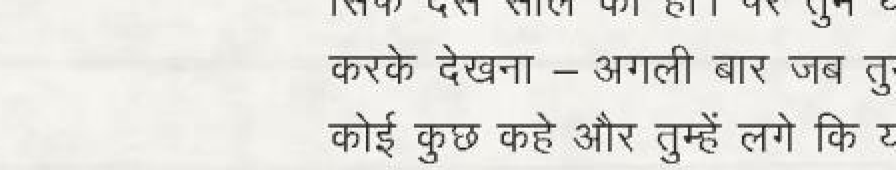

मेरा पन्ना

कबूतर का चौतरा

तीन-चार महीने पहले की बात है। हम सब छोटे-छोटे बच्चे स्कूल से वापस लौट के आ रहे थे। संझली और प्रदयामणी सिलाई क्लास चली गईं थीं। संझली नहीं थी इसलिए मज़े से खेलते-खेलते धीरे-धीरे लौट रहे थे। आधे रास्ते आए तो एक घर से अंकल बाहर निकले और इशारा करते हुए बोले, "इसे उठाकर ले जाओ।" उनके घर के बाहर एक टिपकी (ओटला/चबूतरा) पर एक स्लेटी रंग का कबूतर पड़ा हुआ था।

देशमणी उसे उठाकर ले आई। उसकी आँख फूटी हुई थी। और वो मर चुका था। हम सभी ने सोचा इसका चौतरा (चबूतरा) बनाना चाहिए।

पार्क के पास एक झाड़ के नीचे हमने एक गड्ढा बनाया। जे.पी. एक रुमाल बीन लाया। हमने रुमाल बिछाया और "राम नाम सत्य है" बोलकर उसे गड्ढे में डाल दिया। फिर सबने मिट्टी भर दी। ऊपर मिट्टी का छोटा-सा चौतरा बनाया। जे.पी., सुनैना और अमर एक फर्शी का टुकड़ा ले आए और हमने उसे चौतरा पर डाल दिया। फिर सब बच्चे आस-पास से फूल ले आए और हमने चौतरे पर डाले। तब से हम रोज़ स्कूल आते-जाते समय फूल डालते। थोड़े दिन बाद नौरात्री की छुट्टियाँ लगीं। हम होस्टल से घर जाने लगे। आखिरी दिन हमने ढेर सारे फूल चढ़ाए। जब छुट्टी से लौटे तो शनिवार था। हमारा चौतरा देखने का बड़ा मन था। पर डर से दीदी से नहीं बोले। फिर जब सोमवार को स्कूल गए तो दौड़ते-दौड़ते पार्क पहुँचे। वो चबूतरा वहाँ नहीं था। किसी ने तोड़ दिया था।

– सुनैना सिंह और संजना सिंह, दूसरी, अरण्यवास, भोपाल

मेरा पन्ना

पीला बादल – मौत का बादल
काले मेघा पानी दे
पानी दे, गुड़धानी दे

यह गीत मुझे बहुत अच्छा लगता है। परन्तु हिरोशिमा के पीले बादल से मुझे बहुत घृणा है। यह पीला बादल अणु बम के धुएँ से उठा था। इसने 6 अगस्त 1945 को जापान के सुन्दर नगर हिरोशिमा का नाश कर दिया था।

मैं अपने पिताजी-माताजी, भाई तथा एक जापानी चाचा नाईतो जी के साथ 26 फरवरी 1981 को हिरोशिमा गया था। इस नगर के बारे में मैं अपनी पाठ्यपुस्तक में पढ़ चुका था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं इसे देखूँ। ऐसा लगता था कि अब भी यह नगर उजड़ा हुआ होगा।

हिरोशिमा की यात्रा बड़ी ही अच्छी रही। पहली बार शिनकानसेन में बैठे। विश्व की सबसे तेज़ गति से चलनेवाली ट्रेन में बैठकर बड़ा आनन्द आया। वापिस कुरुक्षेत्र जाऊँगा तो सब मित्रों को बताऊँगा कि विश्व की सबसे तेज़ गति से चलनेवाली ट्रेन कैसी है।

27 फरवरी को हम जापानी चाचा नाईतो जी के साथ हिरोशिमा देखने गए। कई जगहें देखीं। हिरोशिमा बहुत सुन्दर नगर है। मैंने सोचा था उजड़ा पड़ा होगा। मैं बार-बार अणु बम के विनाश को देखने की सोच रहा था। वह विनाश हमने अणु बम के म्युज़ियम में देखा। मुझे सब दृश्य बहुत बुरे लगे। छोटे-छोटे मरे हुए बच्चों के चित्र थे। एक बच्चे का खाने का डिब्बा देखा। बेचारा खाए बिना ही मर गया। मुझे उन अमरीकी लोगों पर बड़ा गुस्सा आया जिन्होंने अणु बम गिराया था। कितने बच्चे मारे गए। लाखों लोग मारे गए। कितने मकान गिर गए। आग से सब कुछ नष्ट हो गया। एक मकान का कुछ भाग बच गया। हमने उसका चित्र देखा। उसके कई चित्र लिए। यहाँ एनोला-गे बी-29 का चित्र देखा। इस विमान से अणु बम गिराया गया था। हमारे भारत के महात्मा बुद्ध की मूर्ति भी देखी जो कि अणु बम से आधी नष्ट हो गई थी। मेरे पिताजी ने इसका चित्र लिया। और भी बहुत-से चित्र लिए। ये चित्र हम भारत जाकर मित्रों को दिखाएँगे। उन्हें भी पता चलेगा कि अणु बम से कितना विनाश हुआ।

मेरा दिल यह सब देखकर बड़ा उदास हुआ। अब भी उस अधजले खाने के डिब्बे का चित्र रह-रहकर मेरे सामने आ जाता है। वह बालक बिना खाए ही मर गया बेचारा। न जाने और कितने ही बालक ऐसे ही मर गए होंगे। मुझे अणु बम से बड़ी घृणा हो गई है।

– नीरज यादव, पाँचवीं, गुड़गाँव, हरियाणा

(डॉ. नीरज यादव ने यह अनुभव 1981 में लिखा था)

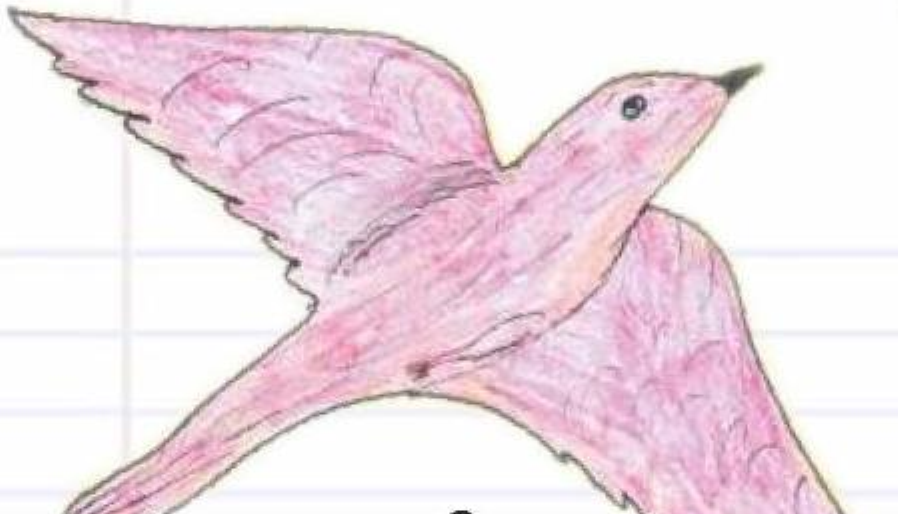

—कमलेश, पाँचवीं,
भलावल, हिमाचल प्रदेश

एक प्यारा रिश्ता

एक बार एक बत्तख ने अण्डे दिए। उन अण्डों में से एक अण्डा आँधी के कारण लुढ़ककर एक बस्ती में आ पहुँचा। तभी एक भूखी बिल्ली को वह अण्डा नज़र आया। वह बहुत खुश हुई। वह अण्डा तोड़कर खाने ही वाली थी कि अण्डे में से बच्चा निकल आया। बिल्ली ने बच्चे को खाने की सोची, तभी बच्चे ने बड़े ही प्यार से बिल्ली को माँ कहा और उसकी गोद में बैठ गया। उस दिन से उस बिल्ली तथा बत्तख के बच्चे में एक नया रिश्ता कायम हो गया।

—इशरत, तीसरी, डीपीएस स्कूल लुधियाना, पंजाब

सर्दी

सर्दी का मौसम आया
लज़ीज खाने का दिन लाया
सर्दी में हम सब मूँगफली खाते
हफ्ते में केवल दो बार नहाते
शैतानी करने पर नहीं लगता अब डर
क्योंकि पहनते हैं तीन-चार स्वेटर
जब मुझे करना होता है धूप में मज़ा
तभी मुझे मिलती है पढ़ने की सज़ा

—युसुफ हबीब, चौथी,
के के अकेडमी लखनऊ, उ. प्र.

चीन की बॉर्डर की सैर

गर्मियों की छुट्टियों में मैं अपने मम्मी-पापा के साथ हमारे देश के एक खूबसूरत राज्य सिक्किम घूमने गया था। जब हम वहाँ की राजधानी गंगटोक में ठहरे थे तो एक बहुत ही यादगार घटना घटी।

गंगटोक से 50 किलोमीटर दूर 16000 फीट की ऊँचाई पर भारत और चीन की बॉर्डर पर नटूला घाटी है। हम जीप से निकले और लगभग दोपहर 12 बजे वहाँ पहुँचे। वहाँ बहुत ही ठण्ड थी और हर तरफ बर्फ फैली हुई थी। बॉर्डर के एक तरफ भारतीय सैनिकों और दूसरी तरफचीनी सैनिकों को देखने का अनुभव एकदम अलग और अद्‌भुत था। मेरा भाई सारू और मैं बर्फ के गोलों से खेलने लगे। मेरे मोज़े पूरी तरह भीग गए थे। सारू ने मेरी शर्ट के अन्दर बर्फ डाल दी। मैं ठण्ड से सिहर गया।

3 बजे के करीब हम वहाँ से वापिस गंगटोक के लिए निकले। तब तक बूँदा-बाँदी शुरू हो गई थी। हम सिर्फ 10 किलोमीटर ही चले होंगे कि आगे रास्ता पूरी तरह बन्द था। संकरे-से रास्ते पर तकरीबन 250 वाहन फँसे हुए थे। "अच्छा, अब हम आगे कैसे जाएँगे?" मैंने अपने पापा से पूछा। "देखते हैं।" पापा ने कहा।

बॉर्डर रोड ऑर्गेनाइजेशन के बहुत-से लोग रास्ते को साफ करने की पुरज़ोर कोशिश कर रहे थे। लेकिन भारी वर्षा और सब तरफ फैले अँधेरे के कारण वो ऐसा कर नहीं पाए। हमें पूरी रात जीप में ही बितानी पड़ी। उस रात हमने खाना भी नहीं खाया। मैं जल्दी ही अपनी मम्मी की गोद में सो गया।

अगली सुबह जब मैं उठा तो बारिश बन्द हो चुकी थी। आखिरकार सुबह के 9 बजे रास्ता खुला और गाड़ियों की आवाजाही शुरू हुई। हम दिन के 12 बजे अपने होटल पहुँचे। हम भूखे और थके थे और सुरक्षित भी। भारतीय सैनिकों और बॉर्डर रोड आर्गेनाइजेशन के लोगों के कठिन प्रयासों की वजह से ही हम यहाँ सुरक्षित पहुँच पाए। उनको मेरा सलाम।

नटूला घाटी की इस सैर को मैं कभी नहीं भूल पाऊँगा।

—सनथ कृष्णन, पाँचवीं, भारतीय विद्या भवन, थ्रिसूर, केरल

चित्रः आत्रेयी डे

अब्दुल मलिक खान

सर्दी की तीन कविताएँ

सर्दी

ठण्डी, ठण्डी साँस छोड़ती
सर्दी आई,
लगी पूछने घर में कितने
कम्बल और रजाई।

कितने स्वेटर, कितने मफलर
कितने शॉल दुशाले,
उसके आते ही मम्मी ने
बाहर सभी निकाले।

थर-थर करती बोली सर्दी
ये तो कम हैं भाई,
और मँगाओ, और मँगाओ
कम्बल और रजाई।

जाड़े की धूप

जाड़े की सर्दीली धूप
सरसों जैसी पीली धूप।
सुबह हुई तो घर से निकली
सोने-सी चमकीली धूप।
कुहरे की चादर में लिपटी
लगती गीली -गीली धूप।
हरियाले खेतों में फैली
हँसती छैल-छबीली धूप।
जले फर्र से, फिर बुझ जाए
ज्यों माचिस की तीली धूप।
रोज़ शाम को जल्दी-जल्दी
छिप जाए शरमीली धूप।

सर्दी की धूप

बड़ी दूर चली लगे सर्दी की धूप,
जाड़े से जली लगे सर्दी की धूप,

चन्दा की बेटी-सी शीतल सलोनी,
चम्पा की कली लगे सर्दी की धूप,

जल्दी-से सोए उठती है देर-से,
महलों की पली लगे सर्दी की धूप,

हर कोई खाने को मचले जिसे,
मिसरी की डली लगे सर्दी की धूप।

भात की खुशबू आज भी याद है...

मनोहर चमोली 'मनु'

बात उस समय की है, जब मैं बुनियादी स्कूल में पढ़ता था। ताजवीर मेरा पक्का दोस्त था। ताजवीर मुझसे लम्बा था। पढ़ने-लिखने में होशियार था। फिर भी वह मेरी नकल करता। मैं जैसा करता, वह भी वैसा ही करता। मैं घर में पढ़ने लगता, तो वह भी पढ़ने बैठ जाता। मैं घूमने निकलता, तो वह भी पीछे-पीछे आ जाता।

यह और बात थी कि ताजवीर मेरी खूब मदद करता था। हम दोनों एक-दूसरे से अपनी बातें साझा करते थे। हम एक-डेढ़ घण्टा पैदल चलकर स्कूल पहुँचते। दूर-दूर तक मोटर मार्ग नहीं था। गाँव से कोई शहर जाता, तो बूढ़े-बच्चे और जवान मुँह अँधेरे उसे विदा करने जाते। गाँव में बनी चीज़ों की छोटी-छोटी पोटलियाँ बनाई जाती थीं। इन्हें सिर पर उठाकर मोटर मार्ग तक छोड़ने जाने का काम हम बच्चों का ही होता था।

उन दिनों शहर जानेवाले का सामान छोड़ना गर्व की बात समझी जाती थी। बदले में पचास पैसा और एक रुपए का नोट बख्शीश मिला करती थी। शहर से गाँव आनेवाली बस शाम को पहुँचती थी। यही बस सुबह शहर लौट जाया करती थी। हमें बस देखने का मौका कभी-कभी ही मिलता था। स्कूल में आकर हम बताते थे कि इस बार की बस का नम्बर फलाँ-फलाँ था।

मेरे गुरुजी हमारे ही गाँव के थे। छोटा हो या बड़ा गाँव का हर आदमी उन्हें "गुरुजी" ही कहता था। गुरुजी के बाल झक सफेद हो चुके थे। वे मोटा चश्मा पहनते थे। खादी का कुर्ता और चौड़ी मोरीवाला लम्बा खद्दर का पायजामा। यही उनका पहनावा था। उनके कँधे पर हमेशा एक झोला टँगा रहता था। दाएँ हाथ में लम्बी छड़वाला काला छाता उनकी पहचान था। वे कभी-कभी उसे गरदन के पीछे कुर्ते में खोंसकर चलते थे।

वे हल लगाते थे। क्यारी बनाते थे। जंगल जाकर लकड़ी काटते थे। जड़ी-बूटियों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। गाँव की दुख-तकलीफों में खड़े होते थे। शादी-ब्याह में सबसे पहले और सबसे आगे खड़े रहते थे। दूर-दूर तक वे अकेले पढ़े-लिखे और संवेदनशील इंसान माने जाते थे। उनके सैकड़ों विद्यार्थी थे, जिन्हें अक्षर ज्ञान देनेवाले वे पहले अध्यापक थे।

मेरे गुरुजी रिटायर होनेवाले थे। वे अकसर हमसे कहते, "अरे। तुम्हारे बाप-दादाओं को भी मैंने पढ़ाया है। अब बहुत हो गया। अब तुम्हें पढ़ाने शहर से कोई नए 'मास्साब' आएँगे। तब तुम्हें पता चलेगा मास्टर कैसे होते हैं।"

हमें लगता कि गुरुजी यूँ ही मज़ाक कर रहे हैं। "रिटायर" शब्द हमारे शब्दकोष में जो नहीं था। फिर वही हुआ, जो गुरुजी ने कहा। एक दिन अचानक मैंने सुना कि नए मास्टरजी आ गए हैं। राम रतन सिंह राव। इतना लम्बा नाम भी किसी का हो सकता है! मैं चौंक पड़ा था। नए मास्साब गुरुजी के यहाँ ठहरे हैं। यह सुनते ही मैं दौड़कर गुरुजी के घर जा पहुँचा। ताजवीर मुझसे पहले वहाँ खड़ा मुस्करा रहा था। वह नए मास्साब को पानी पिला रहा था। मुझे ताजवीर का मुझसे पहले वहाँ पहुँचना अच्छा नहीं लगा।

वह शाम का समय था। खलिहान में गाँधी आश्रम की नई दरी बिछाई गई थी। नए मास्साब को हम बच्चों ने आसानी से पहचान लिया था। एक तो वे पैंट-कमीज़ पहने हुए थे। भूरे चमड़े के जूते पहने हुए थे। ऐसे जूते मैंने पहली बार देखे थे। मास्साब का रंग गोरा था। सिर के काले बाल घुँघराले थे। उनके पास चमचमाता हुआ सूटकेस था। वे कुर्सी पर बैठे हुए थे। हमारे गुरुजी पालथी मारकर ज़मीन पर बैठे थे। हमने पहली बार ऐसा आदमी देखा था जिसके चेहरे पर न दाढ़ी थी, न ही मूँछ।

राम रतन सिंह राव मुझे पहली ही नज़र में भा गए थे। पहले ही दिन उन्होंने हम सभी से हमारा नाम पूछा। घर-परिवार के बारे में पूछा। कितने भाई हैं? कितनी बहिनें हैं? पिताजी क्या करते हैं? घर में कौन-कौन हैं? पहले दिन हम बच्चे अपने ही बारे में बताते रहे। छुट्टी का घण्टा जब बजा, तब पता चला कि सारा दिन बीत गया। मास्साब की बाँई कलाई पर सोने की घड़ी है। ताजवीर ने धीरे-से मुझे बताया था। ताजवीर मास्साब के बारे में बहुत सारी बातें बता रहा था। मसलन उनके पास क्या-क्या है। वे ढेर सारी रंग-बिरंगी किताबें लेकर आए हैं। उनके पास अखबार भी है।

अखबार! यह शब्द मेरे लिए नया था। मैंने चाहकर भी ताजवीर से अखबार के बारे में नहीं पूछा। घर लौटा। खाना खाया। फिर मैं सीधे मास्साब के घर की ओर चल पड़ा। मास्साब को गाँव के सबसे ऊपरवाला एक खाली मकान रहने के लिए दिया गया था।

नए मास्साब आए दिन शहरों के किस्से सुनाते। उन्होंने हमें अखबार के बारे में बताया। बच्चों की पत्रिकाओं के बारे में बताया। सिनेमा के बारे में बताया। रेल के बारे में बताया। वे ही थे जिन्होंने हमें कैमरा दिखाया। दूरबीन दिखाई। गाँव में ढिबरी और काँच की शीशी पर कैरोसीन लैम्प जलते थे। वे ही तो थे, जो सबसे पहले लालटेन और गैस लाइटर लेकर गाँव में लाए थे। मास्साब ने ही हमें बताया था कि शहर में आदमी-आदमी को खींचता है। हाथ रिक्शा और साइकिल रिक्शा के बारे में उन्होंने ही बताया। वे हर चीज़ का चित्र ब्लैकबोर्ड पर बनाते। उनके बनाए चित्र जीवन्त तो नहीं होते थे, लेकिन हमें उस अनदेखी वस्तु की छवि बनाने में बेहद मददगार होते थे। उनकी बातों में जादू हुआ करता था। पढ़ाते-पढ़ाते वे किस्से-कहानियाँ सुनाने लग जाते। मुझे याद है उन्होंने कहा था कि एक दिन वो भी आएगा, जब मशीन से नोट निकला करेंगे। जब दूर बैठे हुए आदमी से हम साक्षात बात कर रहे होंगे। वो दिन आएगा, जब चाँद में भी शहर बनेंगे।

फिर वहीं लौटते हैं, जब मैं सीधा मास्साब के घर की ओर चल पड़ा था। मैं दबे पाँव मकान के मुख्य द्वार पर खड़ा था।

हमने पहली बार ऐसा आदमी देखा था।
जिसके चेहरे पर न दाढ़ी थी, न ही मूँछ।
राम रतन सिंह राव मुझे
पहले ही नज़र में भा गए थे।

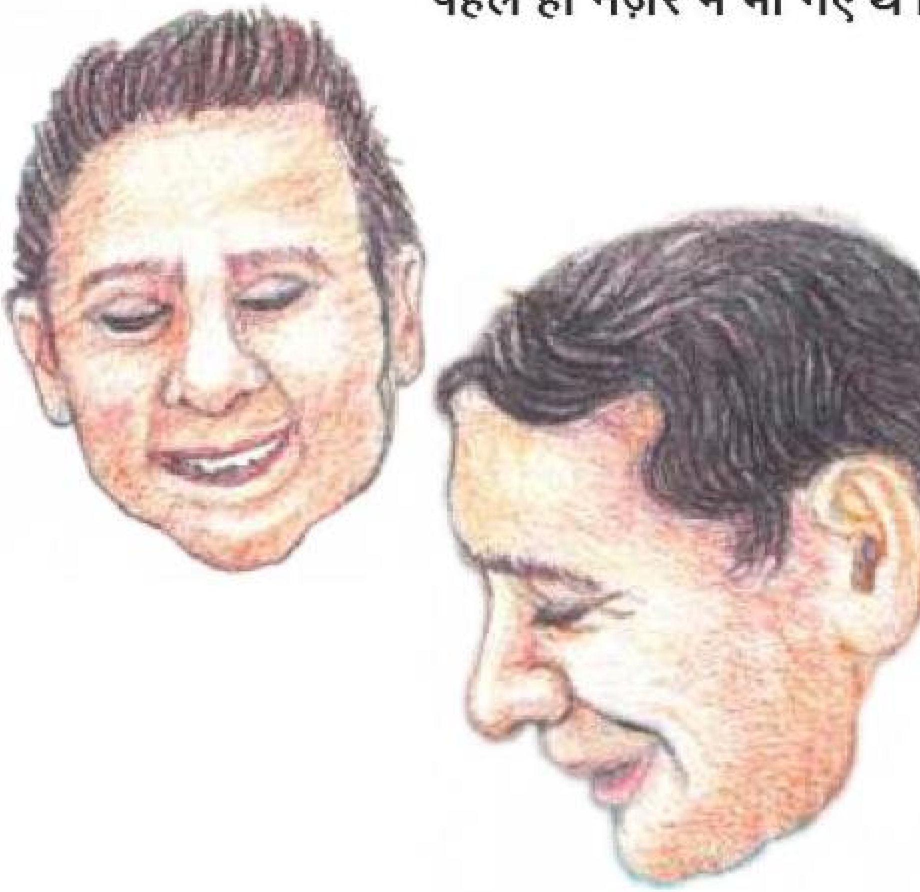

"कौन?" मास्साब ने भीतर से ही पूछा। मैं भाग जाने को हुआ।

"अरे! मनोहर तुम? चले आओ। भागते क्यों हो?" मास्साब जैसे सब समझ गए थे।

मास्साब की रसोई में भात पक रहा था। भात की खुशबू मुझे मदहोश कर रही थी। हम गाँववाले तो मोटा अनाज खाते थे। कभी तीज-त्यौहार में ही चावल बनता था। वह भी सरकारी सस्ते गल्ले की दुकान का मोटा चावल। मैं मास्साब के पास जो नई चीज़ें थीं, उन्हें देखने आया था। मुझे लगा था कि वे बड़े चाव से मुझे एक-एक चीज़ के बारे में बताएँगे। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

मास्साब प्याज़ और मूली काट रहे थे। सलाद बना रहे थे। मैं तो चूल्हे की आग पर पक रहे भात की खुशबू को ज़ोर-ज़ोर-से साँस लेकर अपने भीतर सहेज रहा था। मैं लम्बी साँस लेते हुए आँखें बन्द कर रहा था। मास्टरजी ने देख लिया। वे हँसते हुए बोले, "खाना खाया कि नहीं?" मैंने "न" में सर हिलाया। मास्साब ने दो स्टील की चमचमाती थालियाँ पानी से धोईं। साफ कपड़े से पोंछते हुए दरी के ऊपर रख दीं। भात पक चुका था। गाँव में सभी के पास एल्युमीनियम और काँसे की थालियाँ होती थीं। मैंने थाली उठाई और उसमें अपना चेहरा देखने लगा। मास्साब ने बताया कि यह स्टील है। एक धातु है। अब मास्साब एक-एक कर अपनी चीज़ों के बारे में बताने लगे। लेकिन मेरा ध्यान तो भात पर ही था। मास्साब ने दोनों थालियों में दाल-भात परोसा।

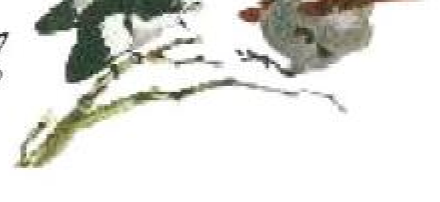

भात की खुशबू के सामने दाल कौन-सी बनी थी, यह जानने की मैंने कोशिश ही नहीं की। घर से भरपेट खाना खाकर ही मैं मास्साब के घर की ओर चला था। इसके बावजूद मैंने छककर दाल-भात खाया।

मैंने मास्साब से पहले ही अपनी थाली चाट डाली थी। दोबारा परोसे जाने का कोई विकल्प नहीं था। यह मैं पहले ही देख चुका था। मैं उठा और मास्साब के लिए धारे से एक बालटी पानी भरकर लाया। दोनों पतीले और दोनों थालियाँ मैंने माँजी। मास्साब मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। मज़ेदार बात यह थी कि बरतन माँजने का सही तरीका भी उन्होंने ही मुझे बताया था।

मैं उछल-उछलकर घर लौटा था। मैंने अपने पेट पर कई बार हाथ फेरा। गोल लोटे का आकार पेट पर उभर आया था। ताजवीर को मैंने सारा किस्सा सुनाया।

ताजवीर ने कहा, "कल से मैं भी आऊँगा। मास्साब के खाना खा लेने के बाद जो भात बचेगा, एक दिन तू खाएगा और एक दिन मैं खाऊँगा।"

मुझे उसका सुझाव मानना पड़ा। हम दोनों स्कूल से तेज़ कदमों से घर लौटते। खाना खाते और मास्साब के घर की ओर चल पड़ते। एक दिन धारे से पानी मैं लाता और ताजवीर बरतन धोता। दूसरे दिन मैं बरतन माँजता और धारे से पानी ताजवीर लाता। एक दिन बचा-खुचा भात ताजवीर खाता। दूसरे दिन भात खाने की बारी मेरी होती।

आज ताजवीर विदेश में है। वो किसी बड़े होटल का सबसे बड़ा रसोईया है। मैं अध्यापक हूँ। तमाम किस्म के चावलों से बना भात खा चुका हूँ। लेकिन मास्साब की रसोई में बने भात की खुशबू जैसे दिल-दिमाग में आज भी ताज़ा है।

चित्रः दिलीप चिंचालकर

माथापच्ची

1 समीर एक दीवार को 3 घण्टे में पेंट करता है जबकि उतनी ही दीवार को पेंट करने में रेहान को 6 घण्टे लगते हैं। अगर दोनों मिलकर दीवार को पेंट करें तो कितना समय लगेगा?

2 यदि तुम्हें अपना एक पूरा दिन सिर्फ एक ही गतिविधि/काम करते हुए बिताना हो तो तुम क्या करना चाहोगे और क्यों?

3 इस चित्र में तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?

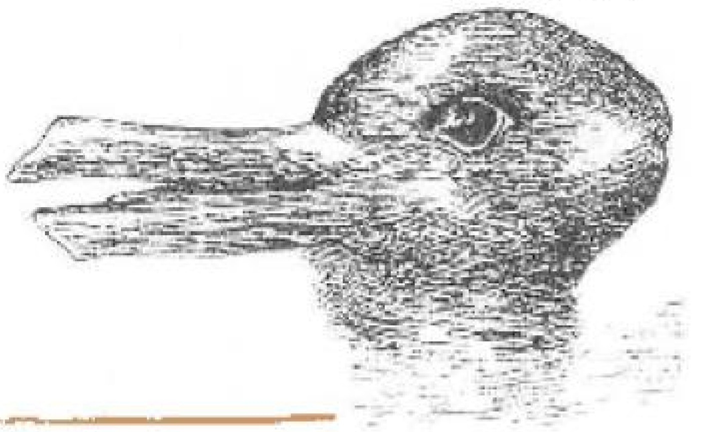

4 सारा किचन में गई तो उसने देखा कि साबुन बार-बार पापा के हाथ से फिसल रहा है। उसने पापा से पूछा कि क्या हुआ तो पापा बोले कि लगता है इस साबुन में अम्ल की मात्रा कुछ ज़्यादा है। सारा बोली ऐसा नहीं हो सकता पापा। आप गलत कह रहे हैं। तुम्हें क्या लगता है सारा ठीक कह रही है। अगर हाँ तो क्यों?

5 हवा दिखाई क्यों नहीं

6 एक ईंट का वज़न 1 किलोग्राम व आधी ईंट के बराबर हो तो एक ईंट का वज़न कितना हुआ?

7 वो कौन-सी चीज़ है जिसे देख तो सकते हैं लेकिन छू नहीं सकते?

(यह सवाल तुलसी, बाल भवन किलकारी, पटना से प्राप्त हुआ है।)

8

बेला → ठेला → मेला → ताला

यहाँ हम एक-एक अक्षर बदलते हुए "बेला" शब्द से "ताला" तक पहुँचे हैं। इसी तरह एक-एक अक्षर बदलकर तुम्हें "**गुलेल**" शब्द से "**मकई**" शब्द तक पहुँचना है। बस यह ध्यान रखना कि एक बार में तुम केवल एक ही अक्षर बदल सकते हो और हर बार बननेवाला शब्द सार्थक होना चाहिए। ऐसा तुम्हें कम से कम बार में करना।

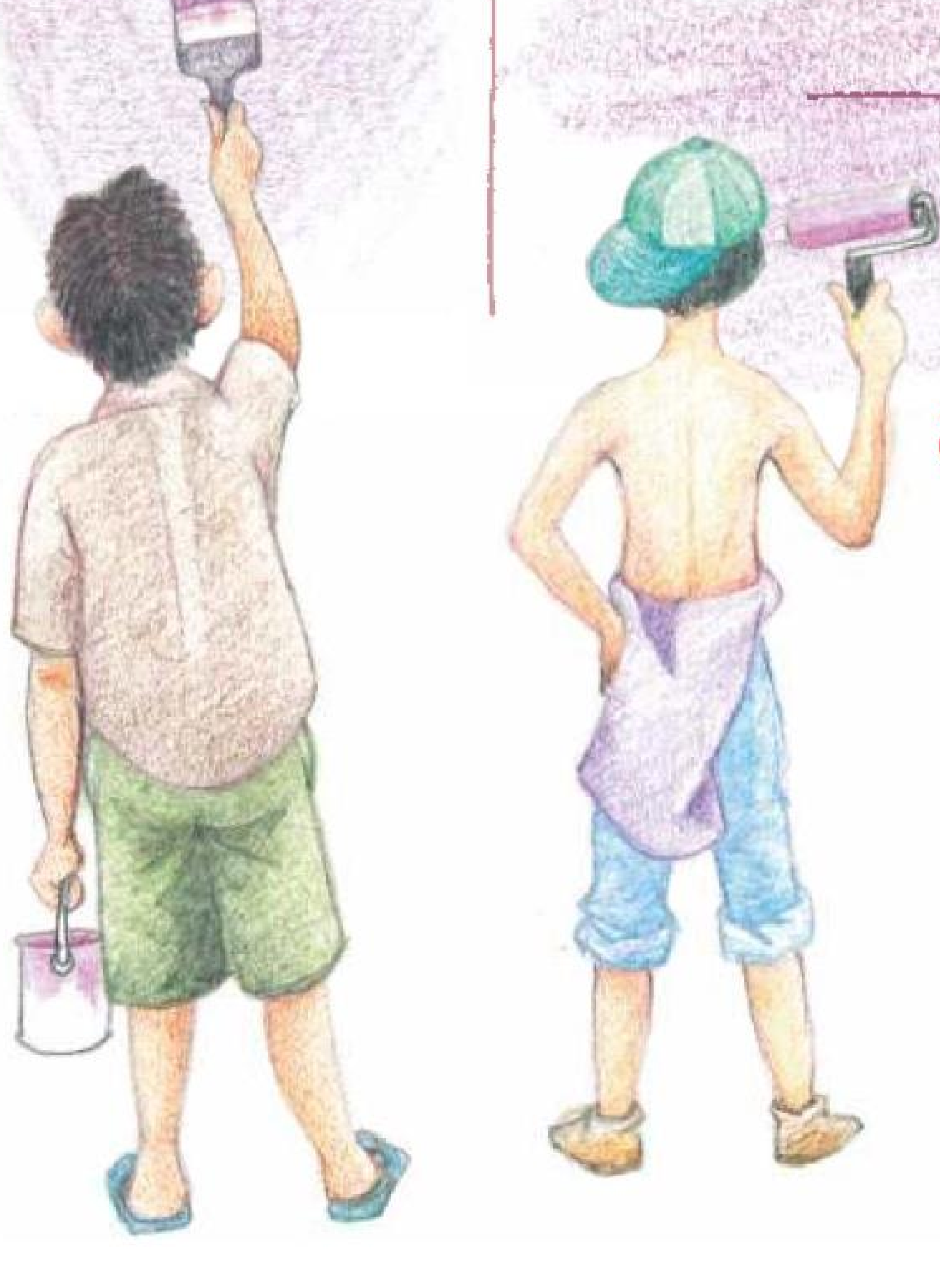

तेजी ग्रोवर

बहुत साल पहले मैंने सुना था कि एक अच्छी कविता वह होती है जो आपको अपने जीवन में कई बार और कई मौकों पर याद आती है। इस तरह की अच्छी कविता आपके जीवन में पहले ही से रची-बसी होती है। यूँ भी कह सकते हैं कि आपका जीवन ही ऐसी किन्हीं अच्छी कविताओं में रचा-बसा होता है। लेकिन फिर भी कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब कोई अच्छी कविता आपके कुछ और पास आ गई प्रतीत होती है। वह आपको धीरज बँधाती है, या आपके आसपास के सौन्दर्य में अचानक झलकती हुई महसूस होती है। फिर वह दृश्य भी उसी कविता का बना हुआ जान पड़ता है। कठिन घड़ियों में ऐसा हो सकता है कि आपको एक ही कविता बार-बार याद आती रहे। वह बिना कुछ कहे हमारे पास बार-बार आकर बैठ जाती है, हमें अपनी रोशनी देती है, अपनी साँस से गरमाहट देती है हमें और इस तरह उस कविता में पहले ही से रचे-बसे होने का हमारा अनुभव अनायास गहरा हो जाता है।

शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता

त्रिलोचन

शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता
जीवन को देखा है
यहाँ कुछ और
वहाँ कुछ और
इसी तरह यहाँ-वहाँ
हरदम कुछ और
कोई एक ढंग सदा काम नहीं करता

तुमको भी चाहूँ तो
छूकर तरंग
पकड़ रखूँ संग
कितने दिन कहाँ-कहाँ
रख लूँगा रंग

अपना भी मनचाहा रूप नहीं बनता

शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता

त्रिलोचन की कविता शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता मेरे लिए ऐसी ही एक कविता है जिसमें मुझे घर जैसा भी लगता है और रेतीले तट पर मस्ती से डग भरने जैसा भी। मैंने तब कविताएँ लिखना शुरू ही किया होगा जब त्रिलोचन ने अच्छी कविता को लेकर वह बात मुझसे कही थी जिससे मैंने लेख को शुरू किया है। तब मुझे नहीं मालूम था कि मुझसे यह बात कहनेवाले कवि की ही एक कविता मेरे लिए इस सच को प्रकाश में ले आएगी।

लेकिन शब्दों की बनी हुई कविता ही यह कहती है कि शब्दों से कभी-कभी काम नहीं चलता। फिर यही शब्द आपको तब याद आने लगते हैं जब शब्दों से आपका काम नहीं चल रहा होता। न आप खुद एक शब्द तक कह पाते हैं, न कोई आपसे कुछ कह पाता है। यह क्षण खामोशी के बने हुए रहते हैं और शब्द भी इस खामोशी को बने रहने देना चाहते हैं। ऐसे में त्रिलोचन की यह कविता कुछ इस तरह महसूस होती लगती है जैसे शब्दों के बिना ही लिखी गई हो। क्या शब्दों के बिना कविता लिखना सम्भव है? कुछ कवियों ने ऐसा किया भी है।

लेकिन उनके बारे में फिर कभी। आम तौर पर शब्दों के बिना लिखना शायद सम्भव न हो लेकिन कोई कविता आपको इस तरह महसूस ज़रूर हो सकती है जैसे दुख बँटाने आपका कोई अजीज़ आपके पास आकर बैठ जाता है, बिना कुछ बोले।

यह ज़बानी याद कविता पहली बार मुझे इस तरह महसूस तब हुई थी जब मैं 1984 के हिंसा से टीसते हुए पंजाब के एक कॉलेज में शेक्सपियर का एक नाटक पढ़ा रही थी। महारानी क्लियोपैट्रा के सौन्दर्य का वर्णन था – जिस कुर्सी पर वह बैठी थी चमक रही थी किसी सिंहासन-सी। कक्षा में धीरे-धीरे क्लियोपैट्रा का नशा छा रहा था कि अचानक कक्षा का पूरा रूप ही बदल गया। भयानक शोरगुल सुन जब हम लोग अपने स्वप्न-लोक से बाहर आए तो देखा कि दीवारें फाँदकर परिसर में घुस आए कुछ युवा लड़कों पर लाठियाँ बरस रही थीं। हम लोग तीसरी मंज़िल पर थे और इससे पहले कि हम कुछ समझ पाते हवा में गोलियों की आवाज़ गूँजने लगी...

इसके बाद क्या हुआ इसका वर्णन नहीं करूँगी मैं। मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि त्रिलोचन की इस कविता ने कैसे इन दो दृश्यों को एक ही डोरी में पिरोया था उस दिन। जो याद है वह यह कि इसके बाद वापिस कॉलेज लौटकर कक्षा लेने में मुझे छह साल का वक्त लगा। जीवन को देखा है/यहाँ कुछ और/वहाँ कुछ और/...कोई एक ढंग सदा काम नहीं करता। ये पंक्तियाँ ही रही होंगी जो मुझे उस परिसर से "वहाँ कुछ और" की ओर ले उड़ीं। इस सब पर मनन किया तो पाया कि ऊँची दीवारों वाले परिसर, पाठशालाएँ, संस्थाएँ किस तरह हमें "वहाँ कुछ और" से बचाकर रखती हैं। विपदा के समय में दीवारों के अन्दर और बाहर एक ही तरह की घटनाएँ घटने लगती हैं। "वहाँ कुछ और" जान बचाने की खातिर दीवारों को फाँदकर किसी भी क्षण भीतर आ सकता है। उससे क्यों बचना फिर? स्वप्न में जीते हुए भी "वहाँ कुछ और" अपने भीतर और अपने साथ होने जैसा ही क्यों न हुआ करे?

ऐसे में त्रिलोचन ही वे कवि हो गए जो जब चाहें मचलती तरंग को थामकर अपने संग रख लिया करें। लेकिन रंग? वह कौन पकड़ सकता है? वे तो इतने हैं "यहाँ कुछ और/वहाँ कुछ और" कि उन्हें कौन संजोए? किसी का बस चलता है भला उन पर? किसी कवि का तो बिलकुल भी नहीं।

बहुत-बहुत जिया फिर मैंने त्रिलोचन की इस कविता के भीतर, बहुतेरे रंगों से सुख-दुख किया। तरंगें भी आकर मानो संग रहने लगीं, फिर भी वैसा रूप नहीं बन पाया – वह मनचाहा रूप मेरे अन्तस में टीसता हुआ। जिसका भी बन पाया अपना मनचाहा रूप, वह भला बताए तो!

लेकिन कैसे बताए? मनचाहा रूप भी तो शब्दों का बना हुआ कहाँ होता होगा?

बस मधुर छन्द की हलकी-सी प्रतीति है (इस कविता में) जो इस रूप को पूरी तरह बिसर नहीं जाने देती। चक मक

चित्रः संजू जैन

हमारी बिल्ली

विजय तेन्दुलकर

अनुवादः अलकनन्दा साने

शेजारी

मराठी भाषा के इस शब्द का मतलब होता है - पड़ोसी।

इस कॉलम में हर महीने तुम मराठी साहित्य पढ़ सकोगे। यूनीक फीचर्स की मदद से यह कॉलम सम्भव हुआ है। यूनीक फीचर्स बड़ों व बच्चों के लिए साहित्य तथा अन्य सामाजिक मुद्दों पर पत्रिकाएँ तथा किताबें प्रकाशित करती है।

बिल्ली के बारे में काफी कुछ पहले से जानता था पर धीरे-धीरे मेरे ज्ञान में बढ़ोत्तरी होती गई। और आज भी जारी है। मैं जिसकी बात कर रहा हूँ वह बिल्ली जब हमारे घर आई तो उसकी उम्र मुश्किल से कुछ महीने थी। उसकी सारी पसलियाँ आसानी से गिनी जा सकती थीं। सफेद रंग पर गहरे रंग के पट्टे थे। लेकिन सफेद रंग इतना मटमैला था जैसे धुलाई के लिए भेजने लायक कोई मैला कपड़ा हो। उसका चेहरा किसी अकाल पीड़ित-सा बेहाल था। चेहरे पर सिर्फ मूँछें नज़र आती थीं।

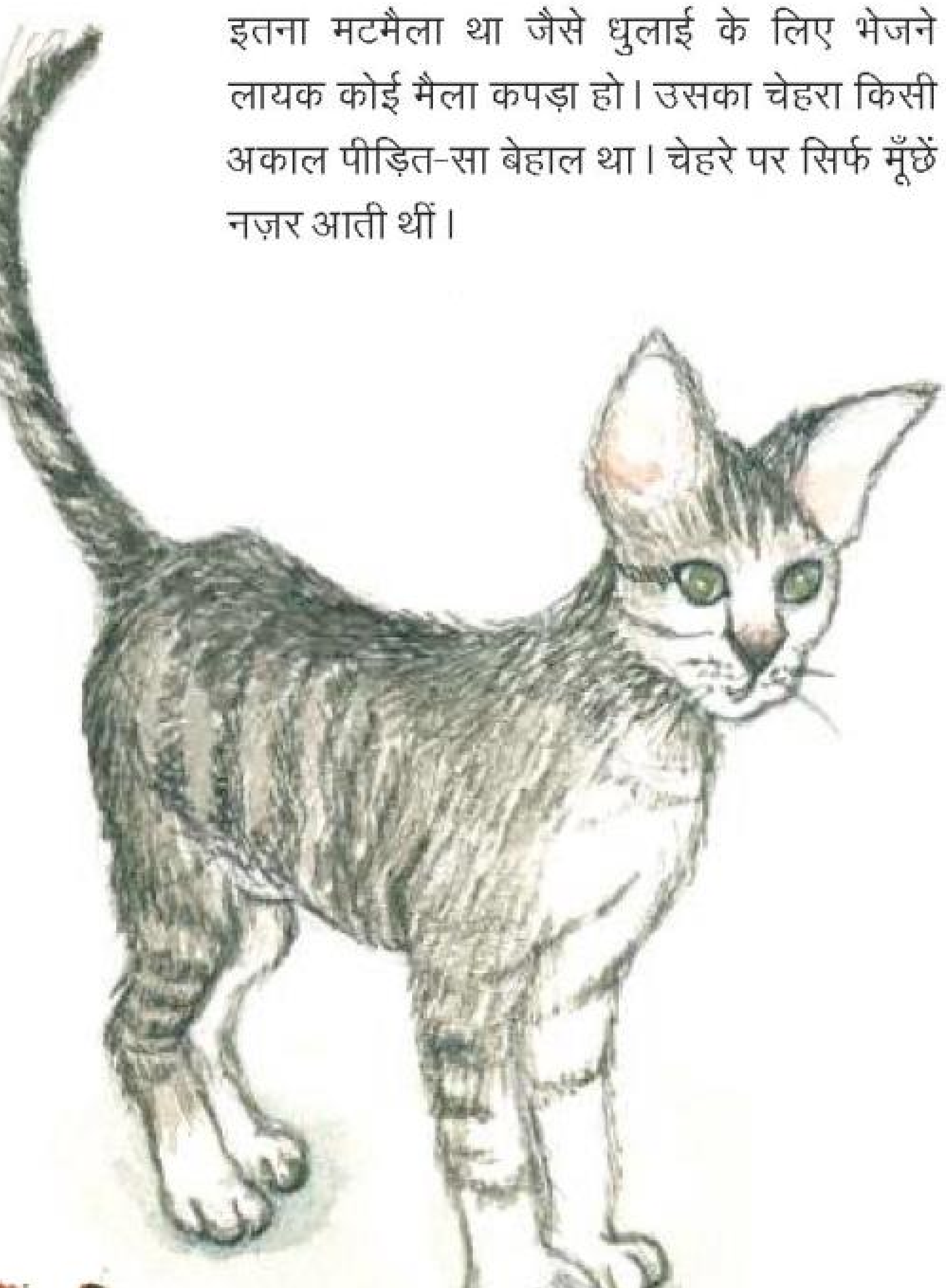

जब उस बिल्ली को लाया गया, तब वह थोड़ी देर तक अन्दर आने के लिए यूँ ही टाल-मटोल करती रही। मानो उसे ज़बर्दस्ती यहाँ लाया गया था। हमने उसके लिए एक प्लेट में दूध रखा, लेकिन उसे भी उसने नज़रन्दाज़ कर दिया। लेकिन बाद में देखते ही देखते सारा दूध चट कर गई। और तो और प्लेट को भी खाने की कोशिश की। पर जल्दी ही उसे अपनी गलती का एहसास हो गया और वह दरवाज़े के पास जाकर पैरों से अपनी मूँछें चाटने लगी। हम जब तक उसे देखते रहे, उसने अपनी वो जगह नहीं छोड़ी। तभी रसोई और बाहर के कमरे के बीच की अँधेरी गैलरी में सोए पड़े कुत्ते ने अपने एक-एक अंग को झाड़ते हुए आँखें खोलीं। बिल्ली ने इसे तुरन्त भाँप लिया, अपने कान एरियल की तरह ताने, लेकिन अपनी जगह से हिली नहीं। यानी उसने अपनी तेज़ नज़रों से देख लिया था कि कुत्ता बँधा हुआ है। या फिर वो सोचती हो कि समस्या को तब तक अनदेखा करो, जब तक वो सिर पर नहीं चढ़ आती।

इतनी देर में कुत्ता पूरी तरह जग चुका था। उसने इस सफेद/कत्थई बित्तेभर की चीज़ को अलग-अलग कोण से निहारा। अजीब बातों को समझने में कुछ समय तो लगता ही है! कुत्ते को इंसान से कुछ ज़्यादा समय लगता है। फिर वह थोड़ा-सा गुर्राया। बाद में सुस्ताए लहज़े में "थोड़ा भयंकर" गुर्राया। उसने "ज़्यादा भयंकर" गुर्राने की ज़रूरत महसूस नहीं की। उसने सोचा होगा कि ज़रा-से में यह मरियल पिल्ला उड़ जाएगा। बिल्ली ने इस ज़रा-से गुर्राने पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया। बाद में शायद उसे लगा कि यह लापरवाही महँगी साबित हो सकती है। तो वह उठी और धीरे-धीरे चलते हुए दूसरी जगह बैठ गई। नई जगह अलमारी के पास थी और मोर्चा खोलने के हिसाब से बेहद सुरक्षित थी। उसने मकान का कोई बहुत अध्ययन नहीं किया था। फिर भी घर में घुसते ही उसने सुरक्षित जगहों को भाँप लिया था।

कुत्ता पड़े-पड़े ही एक कान को नीचे गिराकर हालात का जायज़ा ले रहा था। कुल मिलाकर यह बात छोटी-मोटी नहीं है, हमेशा की तरह

बिल्ली ने तुरन्त भाँप लिया, अपने कान एरियल की तरह ताने, लेकिन अपनी जगह से हिली नहीं। यानी उसने अपनी तेज़ नज़रों से देख लिया था कि कुत्ता बँधा हुआ है।

थोड़ी देर से यह उसकी समझ में आ गई थी। वह फिर थोड़ा-सा भौंका, पर उसमें आत्मविश्वास की कमी थी। बिल्ली भी कुत्ते का तटस्थ भाव से अन्दाज़ ले रही थी। उसने अपनी पूँछ को ढीला छोड़ दिया था। अलमारी के पिछले हिस्से में दीवार की तरफ थोड़ी जगह थी, जो उसे सुरक्षित लगी। वहाँ कुत्ते का प्रवेश सम्भव नहीं था। बिल्ली की (ऊपरी तौर पर ही सही) यह तटस्थता कुत्ते को अपमानजनक लगी। उसने अपने मज़बूत शरीर को कमान की तरह मोड़कर बिल्ली पर झड़पने की कोशिश की, लेकिन ज़ंजीर से बँधा होने के कारण वह ज़्यादा लम्बा कूद नहीं पाया। पलभर में ही बिल्ली भी आत्मरक्षा की मुद्रा में आ गई। उसने भी अपनी मरियल देह को धनुषाकार बना लिया। पूँछ शेर जैसी कड़क। तनाव दोनों तरफ था। कुत्ते ने रुक-रुककर भौंकना चालू रखा। बिल्ली सभ्य बनी रही। और बड़ी संजीदगी से कुत्ते का व्यवहार देखती रही।

कुत्ता खुजलाने के बहाने दो कदम पीछे हटा – बिल्ली के डर से नहीं, ज़ंजीर की वजह से। उसने अपनी बैठक मुद्रा बदली और बिल्ली की ओर से मुँह मोड़कर बैठ गया। लेकिन किसी कड़वाहट से उसकी ओर मुड़-मुड़कर देखता रहा। बिल्ली ने भी आँखें मूँद लीं। पता नहीं वह अपनी अगली चालों के बारे में कुछ सोच रही थी या सो गई थी। फिर बिल्ली ने रसोई की ओर रुख किया। कुत्ते ने रणभेरी बजाई। बिल्ली पहले नीचे बैठी फिर उठकर उलटी दिशा में जाने का अभिनय किया। और अचानक पलटकर रसोई की ओर मुड़ गई। कुत्ते ने बिगुल बजाया। बिल्ली थोड़ा पीछे हटी, फिर आगे बढ़ने लगी तो कुत्ते ने युद्ध की घोषणा कर दी।

अब बिल्ली के सामने गम्भीर प्रश्न खड़ा हो गया था। बिना रसोईघर के बिल्ली जीवन की कल्पना नहीं कर सकती। दूध, खाने की दूसरी चीज़ें सब वहीं तो होती हैं! चूहे भी आमतौर पर वहीं पाए जाते हैं। वहाँ गर्माहट भी होती है। यह सारा ज्ञान उसे शायद वंशपरम्परा से मिलता है। वहाँ जाना था पर बीच रास्ते में दुष्ट कुत्ता था। और ऐसे भौंक रहा था जैसे उसी का घर हो। बिल्ली आँख बन्दकर गहरी सोच में डूब गई। कुछ समय बीता। इस बीच बिल्ली ने दो-तीन बार अपनी जगह बदली। कुत्ता किराए के "दादा" की तरह चौकन्ना था। इधर युद्ध का कोई विकल्प नहीं था, उधर रसोईघर का कोई विकल्प नहीं था। क्रान्ति के बिना आज़ादी कहाँ? बिल्ली खड़ी हुई। उसने अपने शरीर को झटकारा और आलस को भी। थोड़ी देर खड़ी रहने के बाद वह चल पड़ी – सीधे अपने लक्ष्य की ओर। उसके कमज़ोर पैरों में चीते जैसी सावधानी और दृढ़निश्चय दिखाई दे रहा था। कुत्ते ने अपने कान फैलाए और तुरन्त पोज़ीशन ली। आगे के पैर फैलाकर उसने दादागिरी दिखाने की कोशिश की। पर बिल्ली के कदम नहीं रुके। एक ही पल में दृश्य बदल गया। कुत्ते ने गगनभेदी हुंकारे के साथ बिल्ली पर झपट्टा मारा। बिल्ली कुछ मिमियाई। लेकिन खुद को बचाकर रसोईघर में दाखिल हो गई। उधर कुत्ते की नाक से खून बह रहा था।

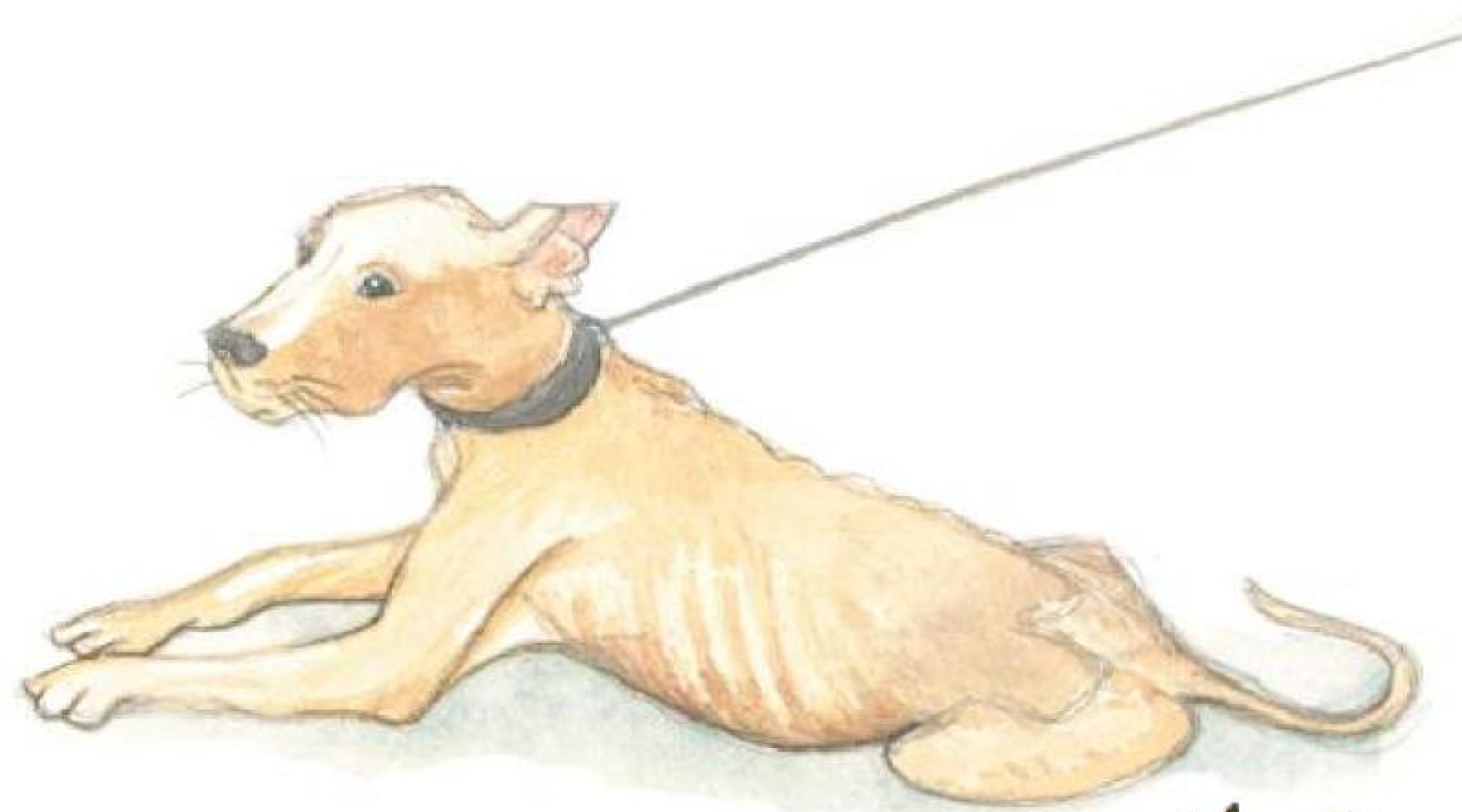

इस लड़ाई का असर यह हुआ कि बिल्ली के दिखते ही कुत्ता अपना मुँह मोड़ लेता। या ऐसे दिखाता जैसे उसने बिल्ली को देखा ही न हो। बिल्ली के लिए मैदान साफ हो गया। अब वह पूरे घर में आज़ादी और आत्मविश्वास से घूमने लगी। फिर तो उनमें प्रेम हो गया। उनके इस गठबन्धन को देखकर घर आने-जानेवाले लोग हैरान होते हैं। धीरे-धीरे बिल्ली ने रसोईघर का जायज़ा लेना शुरू किया। कोना-कोना छान मारा। अनाज के डिब्बे, अचार के मर्तबान, दूध की भगोनियाँ, गैस का चूल्हा, सिंक, टेबल-कुर्सी आदि जगहों पर घूम-घूमकर, सूँघकर, बैठकर, सोकर उसका निरीक्षण जारी था। लग रहा था मानो उसने कुछ तय कर लिया हो। अब तक उसने घर के दूसरे हिस्सों के बारे में शायद ज़्यादा सोचा नहीं था। लेकिन बाहर के कमरे में वह एक से ज़्यादा बार चक्कर ज़रूर लगाती थी। जैसे हम लोग शाम के समय चहलकदमी करते हैं। यह भी हो सकता है कि वह कुत्ते के डेरे से होकर आने-जाने के रास्ते पर अपना हक नहीं छोड़ना चाहती थी। रसोईघर की मालकिन और दूसरे आने-जानेवालों को सूँघ-सूँघकर उसने देखा और अन्त में रसोईघर पर उसका कब्ज़ा हो गया। धीरे-धीरे अब उसकी आवाज़ भी सुनाई देने लगी।

बाहर के कमरे, बालकनी, बैडरूम, बाथरूम, खिड़कियों और घर की तमाम सँकरी जगहों के लिए भी बिल्ली ने रसोईघर के निरीक्षणवाला तरीका ही अपनाया। उसकी नाक और पैरों ने इस काम में उसकी भरपूर मदद की। कुल चार दिनों में युद्ध स्तर पर यह कार्य सम्पन्न हुआ। इसके बाद बिल्ली ने "उच्च" अध्ययन के लिए छत की ओर कूच किया। इसी बीच उसने अपनी एक समयसारिणी भी बना ली। भूख, नींद और मलत्याग का समय और जगह निश्चित थी। उसने जान लिया था कि उन सुरक्षित स्थानों पर उस समय कोई नहीं रहता था। यदि कभी कोई होता तो वह बाकायदा विरोध प्रदर्शित करती। चिल्लाकर उस स्थान को खाली करने का आदेश देती। एक दिन उसे कहीं दूसरी ओर जाना था तो वह गलती से टीवी पर चढ़ गई। उसे वह गर्माहटवाली जगह पसन्द आ गई और वहीं उसने एक झपकी भी ले ली। टीवी बन्द होने के थोड़े समय बाद जब तक वह गर्म था बिल्ली वहीं डटी रही। बाद में उतरकर चली गई। असली मज़ा तो दूसरे दिन से आया। जैसे ही टीवी चालू होता उसकी काली-नीली पट्टी दिखाई देती, बिल्ली फट-से उस पर चढ़ जाती और उस "गर्म बिस्तर" पर लम्बी तान देती। टीवी पर चल रहे कार्यक्रमों से उसे कोई लेना-देना नहीं था। कार्यक्रमों का स्तर, कास्टिंग, निर्देशन, टीआरपी आदि मसलों को उसने हमारे लिए छोड़ दिया था। शुक्रवार, शनिवार देर रात तक टीवी चलता है, यह उसने अपने अनुभवों से जान लिया था। यदि उसमें कोई बाधा आती तो वह आहत हो जाती

जैसे ही टीवी चालू होता उसकी काली-नीली पट्टी दिखाई देती, बिल्ली फट-से उस पर चढ़ जाती और उस "गर्म बिस्तर" पर लम्बी तान देती।

नहीं हो रही है तभी वह "ऊपर" अपील करती थी। आदमी का हाथ या गोद वह टालती थी और यदि कोई कोशिश करता भी तो उस

व्यक्ति के साथ उसका व्यवहार अछूतों की तरह होता। वह छिटककर दूर जा खड़ी हो जाती। कुल मिलाकर वह आदमी या मनुष्य से एक सुरक्षित दूरी बनाकर चलती थी।

इसके ठीक विपरीत दुनिया में यदि सिर्फ दूध की भगोनियाँ, मटन की प्लेट्स, बाज़ार से आई थैलियाँ, टीवी का ऊपरी गर्म हिस्सा, मुलायम सोफा, धूप में नहाई बालकनी और खिड़कियाँ आदि ही होता तो उसे ज़्यादा अच्छा लगता, पर वह मजबूर थी। संसार की रचना उसकी रुचि के अनुसार नहीं हुई थी। जो है उसे स्वीकार करो यह तटस्थ भाव उसने अपना लिया था। जब वह आँख मूँदकर पड़ी रहती तो किसी विचारक जैसे सुन्दर भाव उसके मूँछदार छोटे चेहरे पर दिखाई देते। मनुष्यों के बारे में उसकी धारणा बहुत अच्छी नहीं थी। वह उन्हें जन्मजात चोर समझती थी। वे कितना भकोसते हैं, कितना सारा गटक जाते हैं, यह सब उसे बिलकुल पसन्द नहीं था। जो चीज़ें बिल्लियों के लिए हैं उनका सेवन मनुष्य कैसे कर सकते हैं? वह भी बिलकुल आँखों के सामने। कोई आखिर कब तक यह बर्दाश्त करे? इस पर उसने ज़ालिम उपाय ढूँढ निकाला। ढँके हुए बर्तनों को खोल देना, कभी ज़रा-सा चख लेना। चोरों को ज़्यादा बड़ी सज़ा देनी हो तो बर्तन को ज़मीन पर उलटाकर, बर्तन और ज़मीन दोनों को चाट-पोंछकर साफ करना। इस व्यवहार का कोई अपराधबोध उसके चेहरे पर नहीं दिखाई देता था। लेकिन यदि कोई खाता-पीता दिखाई दे जाता तो वह उसे होनेवाली गहरी तकलीफ को व्यक्त करने से चूकती नहीं थी। उसे पड़नेवाली मार या लातों की उसे परवाह नहीं थी।

धीरे-धीरे उसे विश्वास हो गया कि इस घर पर उसका कब्ज़ा हो गया है। फिर वह घर से बाहर भी निकलने लगी। वह घास पर लेटती, मिट्टी में लोट लगाती। अब उसका अपने जात

चित्रः दिलीप चिंचालकर

भाइयों से भी परिचय हो गया था। पहले वह बाहर निकलने के थोड़ी ही देर बाद घर आ जाती थी, पर अब रातभर भी कहीं रह जाती है। ऐसे मौकों पर वह अकसर दिनभर झपकियाँ लेती रहती है। खाना और सोना, बस। बीच में दो दिन गायब रही, हमें लगा कहीं चली गई, अब नहीं आएगी पर हाइवे पर उसने बेटे को देख लिया और उसके साथ लौट आई। आते ही बराबर पहले घर का निरीक्षण किया कि कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं?

बिल्ली के व्यवहार के कई आयाम हैं। घर में जब हम खरगोश लाए तो वह बड़ी उत्सुकता से उसे देखती थी। उसकी समझ में शायद यह नहीं आता था कि यह नर्म, मुलायम चीज़ है क्या? वह पिंजरे पर नाक गड़ाकर उसे देखती रहती। दिन में कितनी ही बार वह सब कुछ भूलकर यही करती दिखती। कभी उसे लगता खाने की चीज़ है तो उसकी लार टपकने लगती। उसने पिंजरे के चारों ओर घूम-घूमकर उसमें घुसने का रास्ता भी तलाशा। एक दिन वह ऐसे ही नींद से जागकर अलसाई-सी पड़ी थी। उसकी आँखें उनींदी थीं। जैसे ही उसने अपनी आँखों को पूरा खोला उसे दो सफेद आकृतियाँ सामने दिखाई दीं। वो गोल-मटोल खरगोश अपने कान हिलाता सामने खड़ा था। बिल्ली ने एक बार फिर से अपनी आँखें कसकर बन्द कर लीं। शायद उसे सब कुछ अकल्पनीय लग रहा था। उसने आँखें खोलीं तो एक खरगोश उसकी ओर आ रहा था। बिल्ली की समझ में कुछ नहीं आया। उसकी हरी आँखें फैल गईं। पूँछ फूल गई। *(शेष भाग पेज 42 पर)*

कवि विनोदकुमार शुक्ल से लालबहादुर ओझा व सुशील शुक्ल की बातचीत।

"सबके अन्दर अनुभव की गहरी खदानें हैं। कुदाली लेकर हम अपनी-अपनी ज़मीन तलाशते हैं।"

बचपन कैसे याद आता है? बचपन के किस्से! गाँव, पड़ोस, दोस्त, खेत-खलिहान, घर-परिवार...सुशील शुक्ल ने पूछा।

विनोद जीः बचपन बहुत धुँधला याद आता है। जब बचपन को याद करता हूँ तो इस उम्र तक आकर यानी बचपन से इतनी दूरी में आकर पीछे मुड़कर देखने जैसा है। उम्र में रोज़-रोज़ के इतने मोड़ होते हैं कि बीता हुआ थोड़ा-सा और धुँधला दिखता है। दो दिन पहले के दृश्य भी धुँधले होंगे। समय को छपा हुआ जैसा कहाँ याद कर सकते हैं चाहे कितना भी लिख लें। भूलना याद की काँट-छाँट करता है। पर अब लगने लगा है कि डायरी लिखनी चाहिए थी। शायद बचपन से। परन्तु आज के दिन में बीते कल की काफी सफाई हो जाती है। यह रोज़ होता है। रोज़-रोज़ हम आज को अनुकूल बनाते हैं कि आनेवाले कल तक अच्छे से जी सकें। यह ज़रूरी है। अपना बचपन तो लगभग भूल चुका हूँ। पर मेरे जीने में बचपन अभी तक है। जो बचपन है उसे मैं याद नहीं करता उसे जी लेता हूँ। मैं इतना बूढ़ा कभी नहीं हो सकता कि मुझमें मेरा बचपन बिलकुल न बचे।

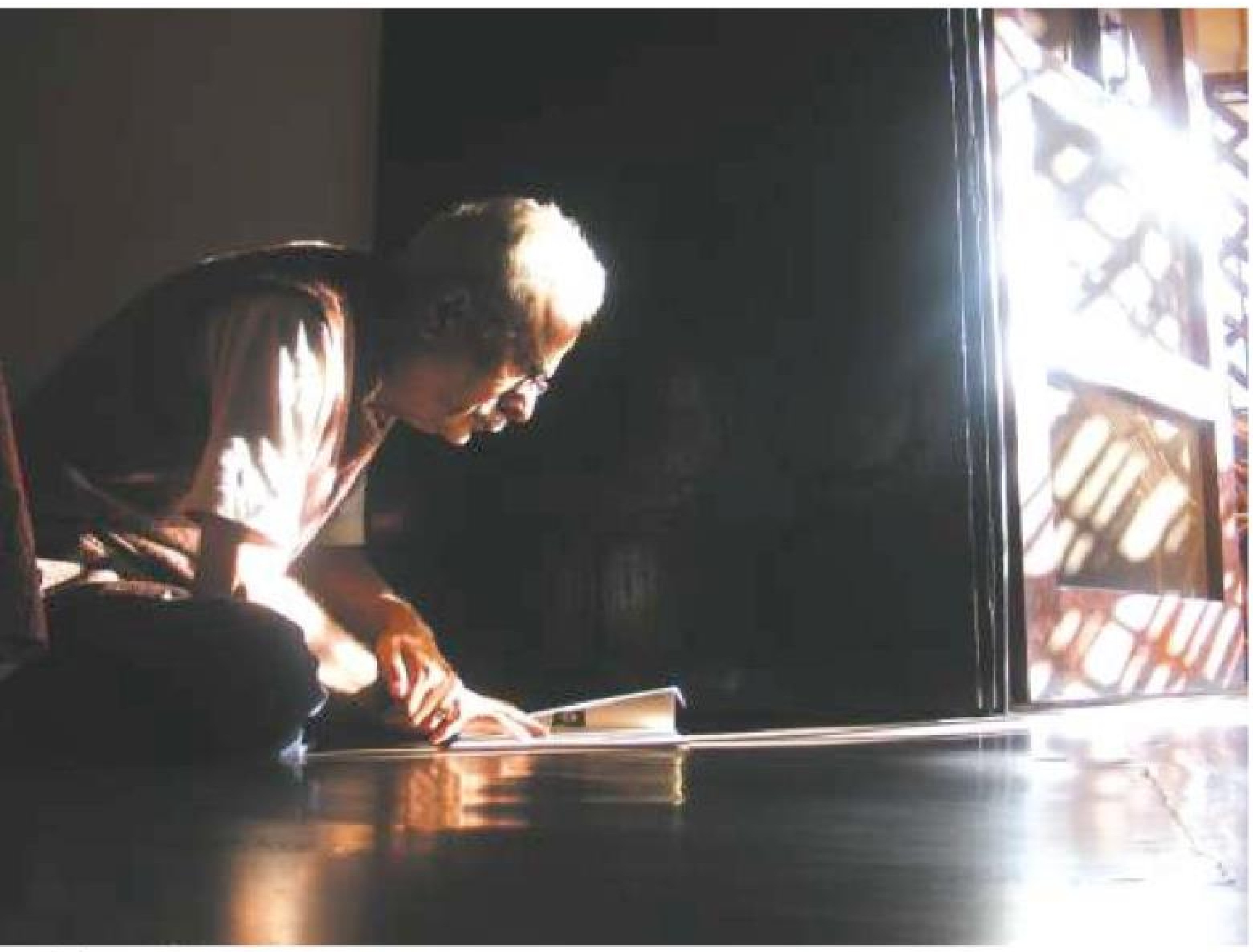

फोटोः शाश्वत शुक्ल

लालबहादुरः बचपन में सुनी कोई कविता-कहानी याद है?

विनोद जीः नहीं, याद नहीं।

लालबहादुरः किस किताब से पहला परिचय हुआ?

विनोद जीः अपनी पसन्द की पहली किताब याद में तब आती है, जब कुछ बड़े हो जाते हैं। घर में बड़ों की किताबें पहले दिखती हैं। संयुक्त परिवार था। दूसरों की किताब छू नहीं सकते थे। डाँट पड़ती थी कि फट जाएगी। किताब ज़मीन पर गिर जाती तो उठाकर माथे पर लगाते थे। थूजा की पत्ती को विद्या कहते थे। इस पत्ती को किताब में दबाकर रखते थे। एक किताब *गज्जू और गम्पू* याद आ रही है। गज्जू और गम्पू हाथियों के नाम थे। दो हाथियोंवाला मुखपृष्ठ याद आ रहा है। मोटे अक्षरों और चित्रोंवाली पतली किताब। यह छुपाई हुई मेरे पास कुछ समय तक थी। किसकी थी मुझे नहीं मालूम। जानवरों के चित्र मुझे अच्छे लगते थे। एक भ्रम बचपन से अभी तक बना हुआ है कि वे चित्र से मुक्त होकर बाहर आ जाएँगे। चाहे चित्र पेड़ के हों, हाथी के हों। पिता

का चित्र भी। लगता कि एक दिन वे बाहर आ जाएँगे, सबके सामने कि उन्हें कोई ठीक-से देखता नहीं। पिता को बचपन में देखा था। बचपन से देखे हुए चेखव, गोर्की के चित्र इतने याद हो गए कि उनको देखना मिलने जैसा हो गया। कल देखा था जैसे कल मिले थे। ये रोज़ मिलनेवाले लोग हैं। मैं यह कैसे कह दूँ कि ये दुनिया में नहीं। किताब ही एक दिन दुनिया को बचाएगी। चीता नहीं है पर चीते का चित्र मनुष्य के अपराध के सबूत की तरह है। मैं किताब से बाहर निकलने की उसकी राह देखूँगा। किसी का चित्र न हो, उस पर लिखा हुआ है तो लिखे से बाहर आने की उसकी राह देखूँगा।

लालबहादुरः लिखना कब शुरू किया?

विनोद जीः लिखना हो सकता है दसवीं में शुरू किया हो।

लालबहादुरः सबसे पहले क्या लिखा...?

विनोद जीः सबसे पहले कविता लिखी।

लालबहादुरः लिखने का मन क्यों करता था?

विनोद जीः लिखना मुझे अपने आकर्षण में कुछ काम लगा होगा जैसे कविता बनाने का काम। रेत का घरौंदा बनाने जैसा। घर में कविता अच्छी बात समझी जाती थी। यह मनपसन्द काम रहा। मैं इसे खेल नहीं कहूँगा। अभिव्यक्ति की ज़रूरत तो बचपन से पड़ती है – पैदा होते ही। खेल को काम का पर्यायवाची समझना चाहिए। मनपसन्द का काम। क्योंकि हम अच्छा करना चाहते हैं। दरअसल बेमन से किए को काम समझते हैं। काम करना हमेशा नौकरी करना नहीं होता। और नौकरी करना हमेशा गुलामी करना भी नहीं।

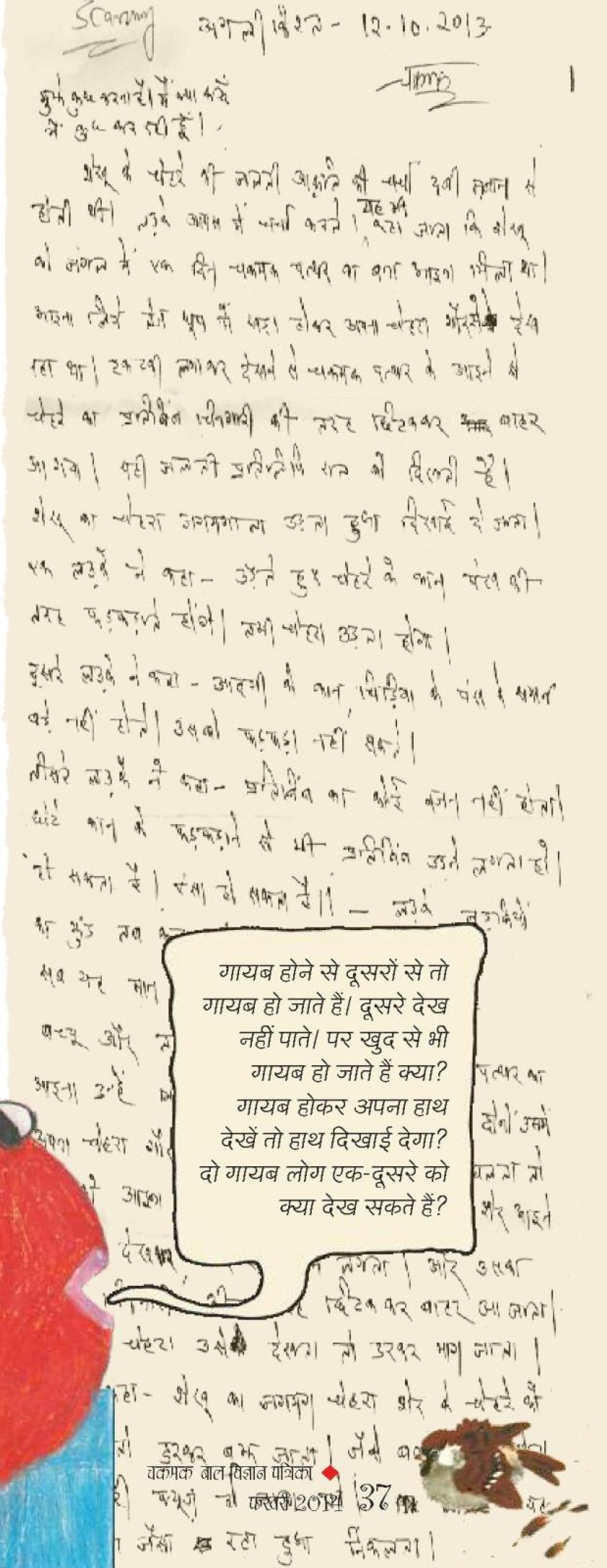

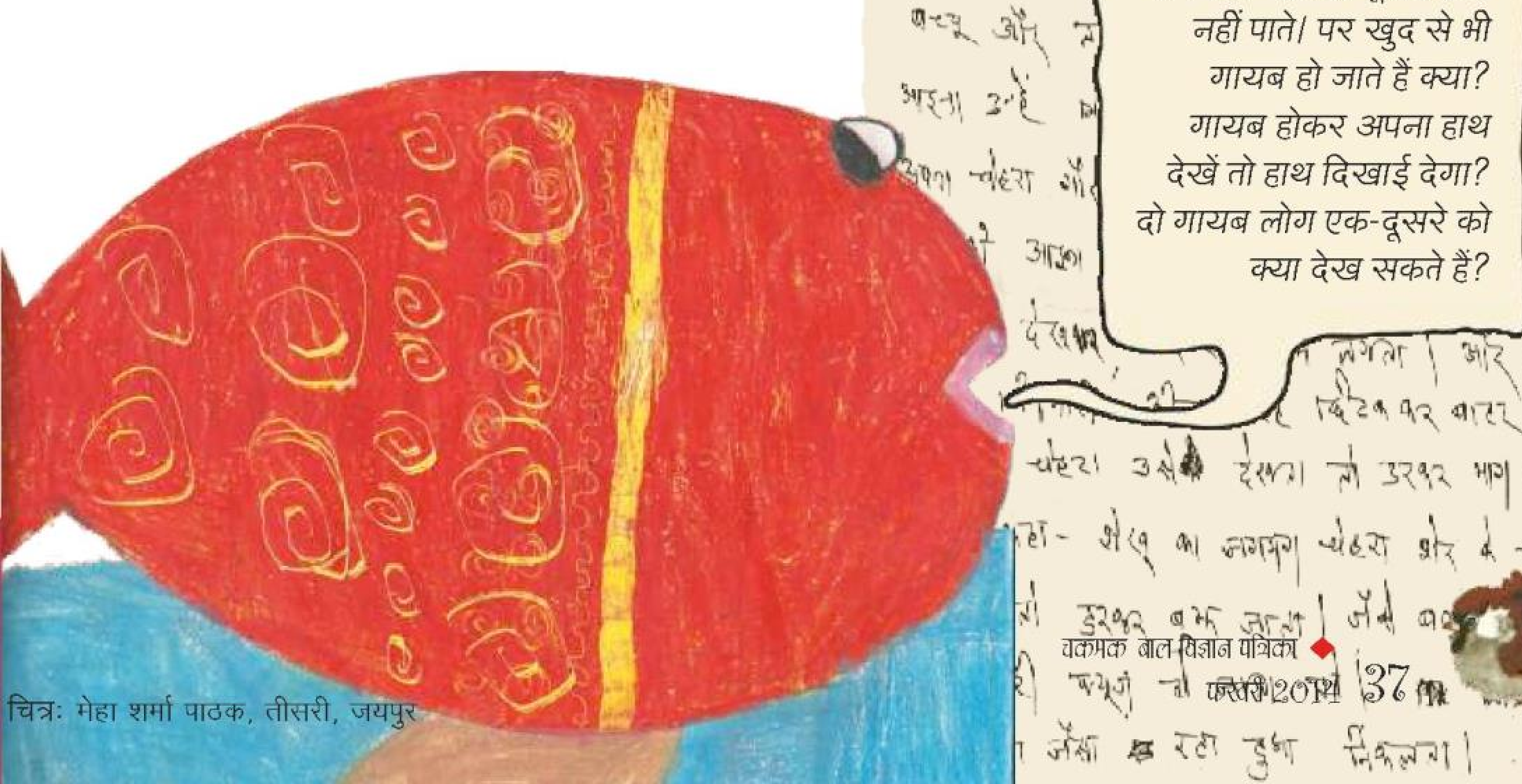

चित्रः मेहा शर्मा पाठक, तीसरी, जयपुर

सुशीलः लिखने की तरफ आना कैसे हुआ? इस तरफ आने में बचपन में पढ़े साहित्य की कोई भूमिका होगी?

विनोद जीः घर में लिखने-पढ़ने का वातावरण था। बड़े भाई भगवती प्रसाद शुक्ल कविताएँ लिखते थे। दूसरे बड़े भाई बैकुंठनाथ शुक्ल की मित्रता मुक्तिबोध जी से थी। मुक्तिबोध जी के नाँदगाँव आने के पहले से। फिर वे नाँदगाँव आ गए। दूसरे बड़े भाई सन्तोष कुमार शुक्ल मुक्तिबोध जी के विद्यार्थी थे।

अम्मा स्कूल में कभी नहीं पढ़ीं। बंगाल में, नाना के घर रवीन्द्रनाथ, बंकिम, शरतचन्द्र को सुना करती थीं। वैसे बचपन कितने दिनों तक रहता है? पढ़ना सीखने के बाद शरतचन्द्र की किताब को खोलकर कुछ पढ़ने की उन्होंने कोशिश ज़रूर की होगी और किसी ने पढ़ने से रोका नहीं होगा या टोका नहीं होगा कि तुम्हारे काम की नहीं है। बाद में अम्मा ने इन सब को पढ़ा। मैं मैट्रिक पास करने के बाद भी घर में जासूसी किताब नहीं पढ़ सकता था।

लालबहादुरः बच्चों के लिए लिखना और बड़ों के लिए लिखना क्या फर्क लगता है? आप करते हैं?

विनोद जीः मेरे साथ मुश्किल यह है कि पाठकों को ध्यान में रखकर लिख नहीं सकता। पाठक प्रत्येक अलग होते हैं। इतने अलग-अलग लोगों के लिए केवल वही एक कथा, एक कविता! रचना प्रत्येक पाठक के अनुसार बदल नहीं सकती। सबके लिए या किसी एक या कुछ लोगों के लिए कैसे लिखा जाए। लेकिन बच्चों के लिए लिखते समय मैं उन्हें ध्यान में रखता था। यह सोचकर नहीं कि नहीं समझेंगे। यह मानकर कि समझेंगे। अपनी समझदारी के साथ बचपने को पाना कठिन रास्ता है। बच्चों के बीच बच्चों की समझदारी से रहें तो वे खुश रहते हैं। बच्चों को बड़े होने में मदद करनी चाहिए। लिखने में इसका ध्यान रखना चाहिए। पाठक-बच्चों को पाठक-बड़ों का साथ मिलना चाहिए। बच्चों के लिए मैंने बहुत कम और बाद में लिखा। कुछ कविताएँ लिखी थीं। कुछ दिन पहले एक छोटा-सा उपन्यास चकमक के सम्पादक ने मुझसे लिखवाया – *हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़।*

सुशीलः आपकी कथाओं के विषय और बच्चों के किरदार कहाँ से आते हैं?

विनोद जीः विषय की सोने या कोयले की खदान जैसी जगहें नहीं होतीं। अगर ऐसा होता तो कितना अच्छा होता! सारे लेखक वहीं इकट्ठे होते। और अपना विषय, कथ्य इत्यादि खनन कर पा लेते। लेकिन सबके अन्दर अपने अनुभव की गहरी खदानें हैं। कुदाली लेकर हम अपने-अपने अनुभवों की ज़मीन तलाशते हैं। दूसरों के अनुभव भी हमारे अन्दर के अनुभव हो सकते हैं। इसमें दूसरों की किताबें बहुत मदद करती हैं।

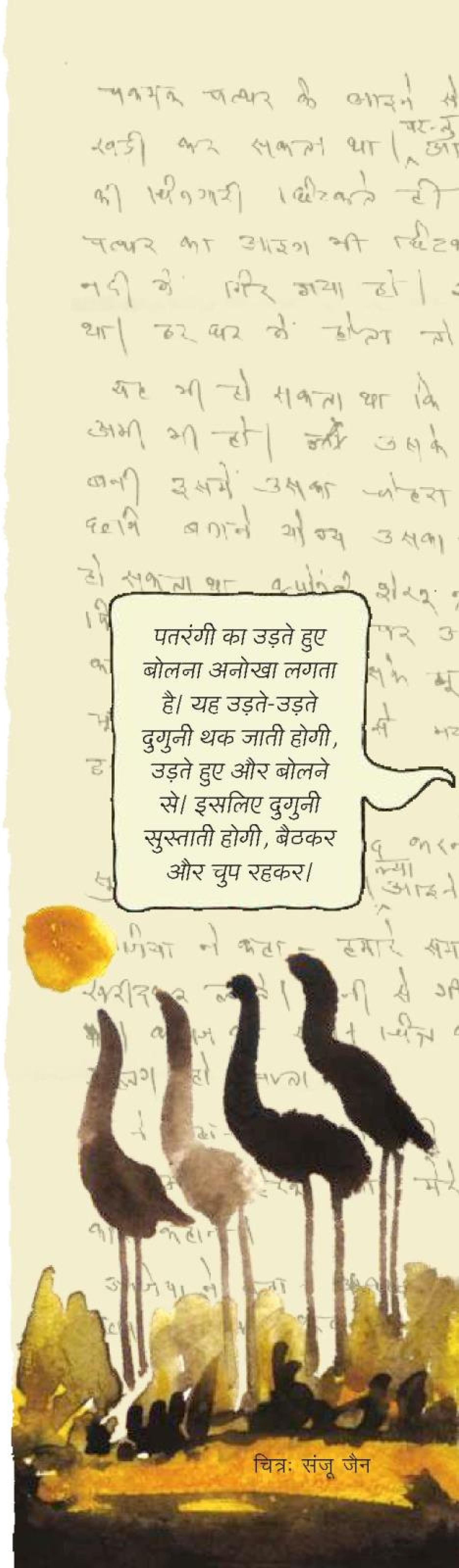

चित्रः संजू जैन

लालबहादुरः हिन्दी के बड़े लेखक बच्चों के लिए आमतौर पर नहीं लिखते? इसका क्या कारण लगता है?

विनोद जीः बच्चे पाठक होते हैं ऐसा कम सोचा गया। बड़े लेखकों को उन्हें अपना पाठक ज़रूर बनाना चाहिए। बाज़ार ने बच्चों को साबुन, शैम्पू का अपना ग्राहक बहुत पहले से बना लिया है। बच्चों की किताबें सुन्दर और सस्ती हों। यदि बड़े लेखकों के पाठक बच्चे होंगे तो बचपने को प्यारा बड़प्पन मिलने के पहले प्यारा बचपना मिलेगा। किताबें राशन की तरह हैं। किताबों को गेहूँ, चावल की तरह ज़रूरी समझना चाहिए।

लालबहादुरः फैंटेसी और इमैजिनेशन में क्या फर्क है?

विनोद जीः कल्पना न हो तो फैंटेसी न हो। कल्पना की समझ फैंटेसी की समझ है। रचना में न तो कल्पना में ऊल-जुलूल हुआ जा सकता है न फैंटेसी में। बच्चों की दुनिया में यथार्थ बहुत कम होता है। फैंटेसी अधिक होती है। बच्चे जितने छोटे, उतना कम उनका यथार्थ। अन्तरिक्ष की कल्पना करने में मैं अपने को बच्चा समझता हूँ। जिस कमरे में महीने भर का बच्चा है उसके बाजू का कमरा उसके लिए अन्तरिक्ष की तरह दूर होगा। शायद, कमरे की छत उसे अन्तरिक्ष की तरह लगती हो।

सुशीलः बच्चों के साहित्य में यथार्थ और हिंसा नहीं आनी चाहिए। आप क्या कहेंगे?

विनोद जीः बच्चों के साहित्य में यथार्थ भी होना चाहिए और थोड़ी ऐसी हिंसा का भी यथार्थ कि अगर चिड़िया है तो चिड़िया की चोंच में पतंगा भी हो सकता है जो उसका भोजन है। यह हिंसा नहीं है। गुलेल लेकर चिड़ियों को मारना हिंसा है। बच्चों के हाथों में गुलेल देखता हूँ तो डर जाता हूँ। दरअसल मनुष्य की हिंसा ही हिंसा है। शेर की हिंसा हिंसा नहीं। मनुष्य की हिंसा से कथा और चित्रों को बचाना चाहिए। प्रेम मनुष्य सभ्यता का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए और इसे एक आदिवासी की तरह पोषित करना चाहिए। सभ्यता ने हिंसा के आविष्कार अधिक किए हैं। चट्टान से एक पत्थर को तोड़ना हिंसा है। प्रकृति को बदलने की एक छोटी कोशिश बड़ी हिंसा है।

चित्रः राई एन पाटिल, पहली

गुलेल लेकर चिड़ियों को मारना हिंसा है। बच्चों के हाथों में गुलेल देखना डरावना है।

लालबहादुरः लोककथाओं में अकसर हिंसा आती है....

विनोद जीः नहीं, पंचतंत्र और लोक साहित्य को रहने देना चाहिए। यह इतिहास को नष्ट करने जैसा होगा।

सुशीलः फिलहाल, बच्चों के लिए क्या लिख रहे हैं?

विनोद जीः बच्चों के लिए *हरी घास की छप्पर वाली झोपड़ी और बौना पहाड़* का दूसरा भाग भी लिखना चाहता हूँ।

लालबहादुरः चकमक के पाठकों के लिए आप कुछ कहना चाहेंगे?

विनोद जीः मैं चकमक का लेखक बनना चाहता हूँ।

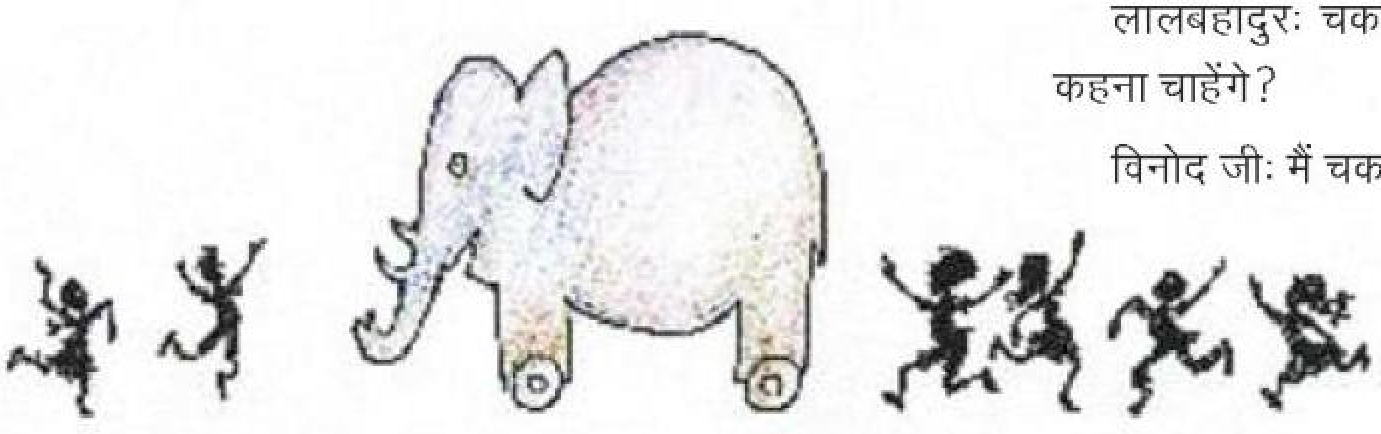

चित्रः अतनु राय

मसला दरवाजे से ओझल होते अजनबी का

दिलीप चिंचालकर

टक टक टक टक !

कहीं कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था।

खटखटा रहा होगा। मैं सुबह की मीठी नींद में था। स्वप्न में दृश्य कुछ और चल रहा था। यह आवाज़ कुछ और थी। कई बार ऐसा होता है कि जो बात वास्तव में हो रही होती है वह स्वप्न में भी घुस आती है। हाँ, कोई कहीं सच में खटखटा रहा था। परन्तु नींद खूब गाढ़ी थी। नहीं खुली। फिर कोई हँस के चल दिया। खटखटाना बन्द हो गया।

भोर होने से पहले की यह नींद मेरे लिए खास है। जागने के समय से घण्टा-आधा घण्टा पहले खुली और फिर लगी हुई नींद। रजाई की ऊब में दुबके रहो कि समय अभी काफी बाकी है। यह जादुई होता है। इस समय मुझे दिलचस्प स्वप्न आते हैं, मज़ेदार कल्पनाएँ सूझती हैं। स्वप्न और असल दुनिया की बातें गड्ड-मड्ड होकर भी इतनी सहज लगतीं हैं, जैसे P = mf या गणित-भौतिकशास्त्र का कोई समीकरण। एक बार सुबह की नींद में मैंने बड़ा कोलाहल सुना। मोहल्ले की गली राजपथ में बदल गई थी। हज़ारों आन्दोलनकारी ज़ोर-शोर से नारे लगाते हुए मेरे घर के सामने से निकल रहे थे। शब्द पकड़ में नहीं आ रहे थे। जैसे-जैसे मैं उन पर ध्यान देता गया, वे बदलकर पास में सो रहे जीजाजी के खर्राटे बन गए। खटखटाने वाली बात भी वैसी ही निकली। जागने के बाद वह भाप की तरह गायब हो गई।

पूस की सर्द सुबह थी और इस तरह अलसाना मेरा प्रिय शगल। वह खटखटानेवाला भी एक ही था कि अपनी रोज़ की शरारत से बाज़ नहीं आ रहा था। मुझे ध्यान में आया कि सोते समय मेरे पास ही पसरनेवाली रैना, मेरी अल्सेशियन बेटी भी इस उकसावे से परेशान है। चार-छह दिनों से वह समय से पहले कूँ-कूँ की आवाज़ कर मुझे जगाने लगी है।

आज अज़ान सुनने के बाद मेरी आँख नहीं लगी। मैं यूँ ही पड़ा-पड़ा सुबह को होता हुआ अनुभव कर रहा था। तभी रैना कुनमुनाने लगी। मैं झपटकर उठा और दरवाज़ा खोलकर बरामदे में आ गया। खटखटानेवाले को मैं हरकत करते हुए पकड़ना चाहता था। वहाँ कोई भी नहीं था। आज खटखटाने की आवाज़ भी नहीं आई थी। मगर रैना उत्तेजित होकर वहाँ के फर्श, तख्त और उस पर पड़े गद्दे को सूँघ आई। कोई तो था वहाँ। हमारी आहट पाकर पहले ही हवा हो गया था।

दूसरे और तीसरे दिन भी यही हुआ। दिखाई कोई न देता मगर वहाँ होता ज़रूर। रैना खूब फूँ-फूँकर सूँघती। बरामदे से पिछवाड़े तक सरगर्मी से छानबीन करती। खटखटाने की आवाज़ अलबत्ता बन्द हो गई थी। या ऐसा मुझे लगा था। क्योंकि चौथे दिन जब मैं मंजन कर रहा था तब वही आवाज़ आई टक टक टक टक। यह खटखटाहट बाहर के दरवाज़े पर निश्चित नहीं थी। कहाँ से आ रही थी मुझे समझ में नहीं आ रहा था। अब मेरी बौखलाहट दादू के भी समझ में आ गई थी।

दादू !

दादू मेरे दादाजी नहीं थे। पता नहीं क्या थे। मेरे बचपन से उनका हमारे घर आना-जाना था। नाटे, झबरीली मूँछोंवाले, मटमैली धोती-कुरता पहनते और नाम था चिन्तामण। वे बातचीत नहीं करते थे। उनका जो भी मूक संवाद होता, मेरी दादी से होता। शायद वे दादी के पुराने गाँव रिंगनोद-आलोट से आनेवाले दूर के रिश्तेदार थे। मेरे लिए वे हर बार गत्ते का एक खिलौना बनाकर लाते। फिर वे हमारे घर में ही रहने लगे। उनके बनाए खिलौने कभी स्पुतनिक (सबसे पहला उपग्रह जिसे

सोवियत रुस ने 1957 में उड़ाया था) से आगे नहीं बढ़ पाए। मगर वे हर नई चीज़ को ध्यान से देखते थे।

दूरदर्शन पर शर्लाक होम्स का रहस्य-रोमांच देखना दादू को पसन्द था। हर बृहस्पतिवार की रात वे मेरे कमरे में आकर दीवार से टिककर बैठ जाते। उन्हें देखकर मुझे धारावाहिक की याद आती। अँग्रेज़ी उन्हें आती नहीं थी। कभी कुछ पूछते भी नहीं थे। फिर भी जब वे टी.वी. देखकर उठते तो उनके चेहरे पर शर्लाक होम्स जैसे भाव रहते। मामला सुलझा लेने के भाव।

अगले दिन सुबह जब मैं चाय का प्याला थामे ओटले पर उनके पास आ बैठा तब वे मेरा मसला सुलझा चुके थे। उन्होंने पड़ोसी के छज्जे पर धूप सेंकती बिल्ली की ओर इशारा किया फिर बरामदे में रखे तख्त की ओर। यानी वह बिल्ली रोज़ रात को ठण्ड से बचने के लिए यहाँ गद्दे पर आकर बैठती है। रैना उसी की गन्ध पाकर गुस्सा हो जाती थी। अपने ही घर में बिलोटे का रैनबसेरा कौन स्वाभिमानी श्वान सहन करेगा? मेरे दरवाज़ा खोलने की आहट पाकर बिल्ली पिछवाड़े में लगे सुरजन के पेड़ पर चढ़कर उस पार छज्जे पर कूद जाती थी। गीली मिट्टी में उसके पंजों के निशान और पेड़ के तने पर कीचड़ सने पंजे छपे हुए थे। इस समय बिल्ली को देखकर सात भाई की टोली और कुछ मैनाएँ शोर मचा रही थीं। अच्छा, तो नींद में उस अजनबी के हँसने की आवाज़ असल में इन पक्षियों का चहचहाना था।

चाय पीने के बाद दादू मुझे ऊपर के कमरे में ले गए। सामने की खिड़की खुली होने से ठण्डी हवा अन्दर आ रही थी। जैसे ही मैंने खिड़की के पल्ले बन्द किए, एक सातभाई आकर मुँडेर पर बैठ गया और लगा खिड़की के शीशे पर अपनी चोंच बजाने – टक टक टक टक। मैं मुस्कराकर दादू की ओर पलटा। उनके चेहरे पर वही बृहस्पतिवार की रात के भाव थे...समझे (डॉक्टर वॉटसन)?

चित्रः दिलीप चिंचालकर

हमारी बिल्ली

(पेज 35 का शेष भाग)

खरगोश अब उसके बिलकुल नज़दीक था। गोरा, मुलायम, गोल-मटोल। बिल्ली ने आव देखा न ताव, अपना जबड़ा पूरा खोल दिया। डेढ़ इंच का जबड़ा खोलकर वह खरगोश की गर्दन दबोचना चाहती थी। खरगोश बिलकुल शान्त, जैसे उसी की राह देख रहा था। पर हाय री किस्मत! गर्दन के माप से जबड़ा छोटा पड़ गया। एक बार, दो बार नहीं, पूरे तीन बार उसने कोशिश की और आखिर में हारकर खरगोश को छोड़ दिया और सीधे बालकनी में रखी पेटी पर चढ़ बैठी – शून्य में ताकती हुई। उसकी मनोदशा अच्छी नहीं थी। कुछ कुंठा (फ्रस्ट्रेशन) जैसे भाव थे। थोड़ी देर बाद वह सामान्य हुई। मटन के भगोने का ढक्कन हटाकर उस पर दाँव मारा और इसके लिए मार भी खाई।

बिल्ली इंसानों से ही क्या, कहीं भी किसी से भी जुड़ती नहीं है। सबके बीच रहकर भी अपना स्वतंत्र, अलग अस्तित्व बनाए रखती है। उसकी अपनी दिनचर्या है। रोज़ के काम हैं, जगहें हैं, मूड हैं, रुचि-अरुचियाँ हैं। अपना जीने का तरीका है, फिर भी किसी से कोई लगाव नहीं। जितनी ज़रूरत हो उतनी ही रिश्तेदारी। मान-अपमान का झूठा दम्भ नहीं। अपने लिए सुविधाएँ जुटाने में माहिर। हमारे घर में उसका भी एक घर है, उसकी अपनी दुनिया है। कुल मिलाकर वह मज़े में जी रही है। चकमक

एक बहुत लम्बा दिन

(पेज 14 का शेष भाग)

हैं। उनके चित्रों में जीवन के विविध रूप दिखाई देते हैं। यूरोप के आधुनिक काल के एक बड़े चित्रकार के रूप में मुंक को गिना जाता है। उनके नाम पर, उन्हीं के कामोंवाला, एक मुंक म्यूज़ियम भी है। दुनियाभर में प्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इब्सन भी नॉर्वे के ही थे। उनकी आदमकद मूर्तियाँ देखीं। ऑस्लो में, नाटकों में अभिनय करनेवाले अभिनेता-अभिनेत्रियों की मूर्तियाँ भी चौराहे पर हैं। वहाँ के ऑपेरा हाउस की इमारत भी बड़ी सुन्दर है। यह कुछ साल पहले ही समुद्री पानी के किनारे बनी है। बनावट ऐसी कि इसकी छत पर चढ़कर लोग टहलते हैं। हमने त्रांदाइम में और ऑस्लो में भी ट्राम में बैठने के मज़े लिए। वहाँ लोग अपना सारा काम खुद ही करते हैं। बागवानी हो, घर की सफाई या खाना पकाना हो। अस्सी-नब्बे साल के बुज़ुर्ग भी खुद ही अपना सामान बाज़ार से थैलों या ट्रॉली में रखकर लाते हैं। अपने लॉन की घास संवारते हैं। यहाँ के लोग बड़े ही सहज स्वभाव के व भले हैं।

तो जो लम्बा दिन हम वहाँ बिताकर लौटे वह हमारे आने के बाद भी जारी रहा। अब तो वहाँ लम्बी रात होगी। बर्फ पड़ रही होगी। झीलों का पानी जम गया होगा। चकमक

जनवरी की चित्र पहेली हल

गु	ल्ली	ड	ण्डा		बी		टि	ड्डा
		लि		प	न	च	क्की	
भे	ड़ि	या		र		बू		का
ल			गें	दा		त	स्वी	र
पु	ता	ई			पा	रा		खा
री		द	ल	द	ल		दो	ना
	फ		ह		क	म	ल	
प	र		सु	ई		क	क	ड़ी
	सा	गौ	न		ढा	ई		

चित्र पहेली

ऊपर से नीचे

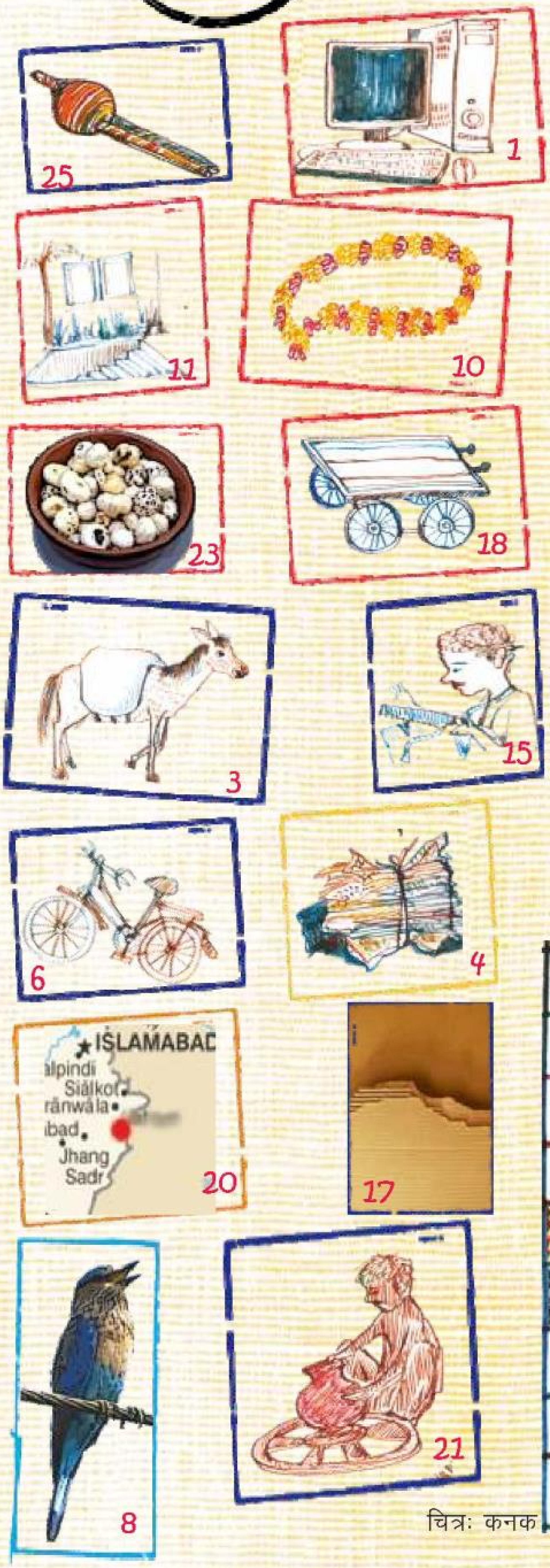

बाँए से दाँए

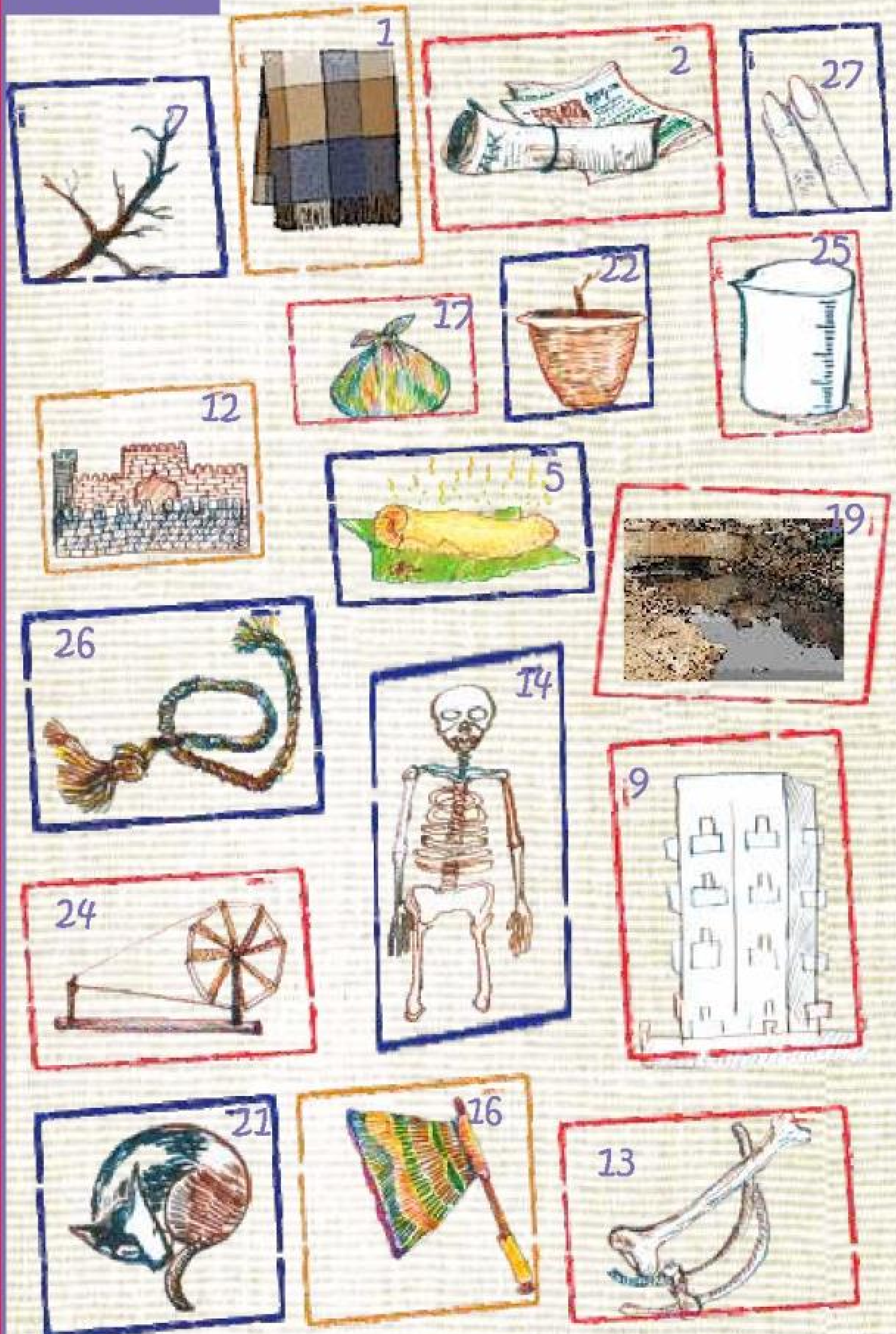

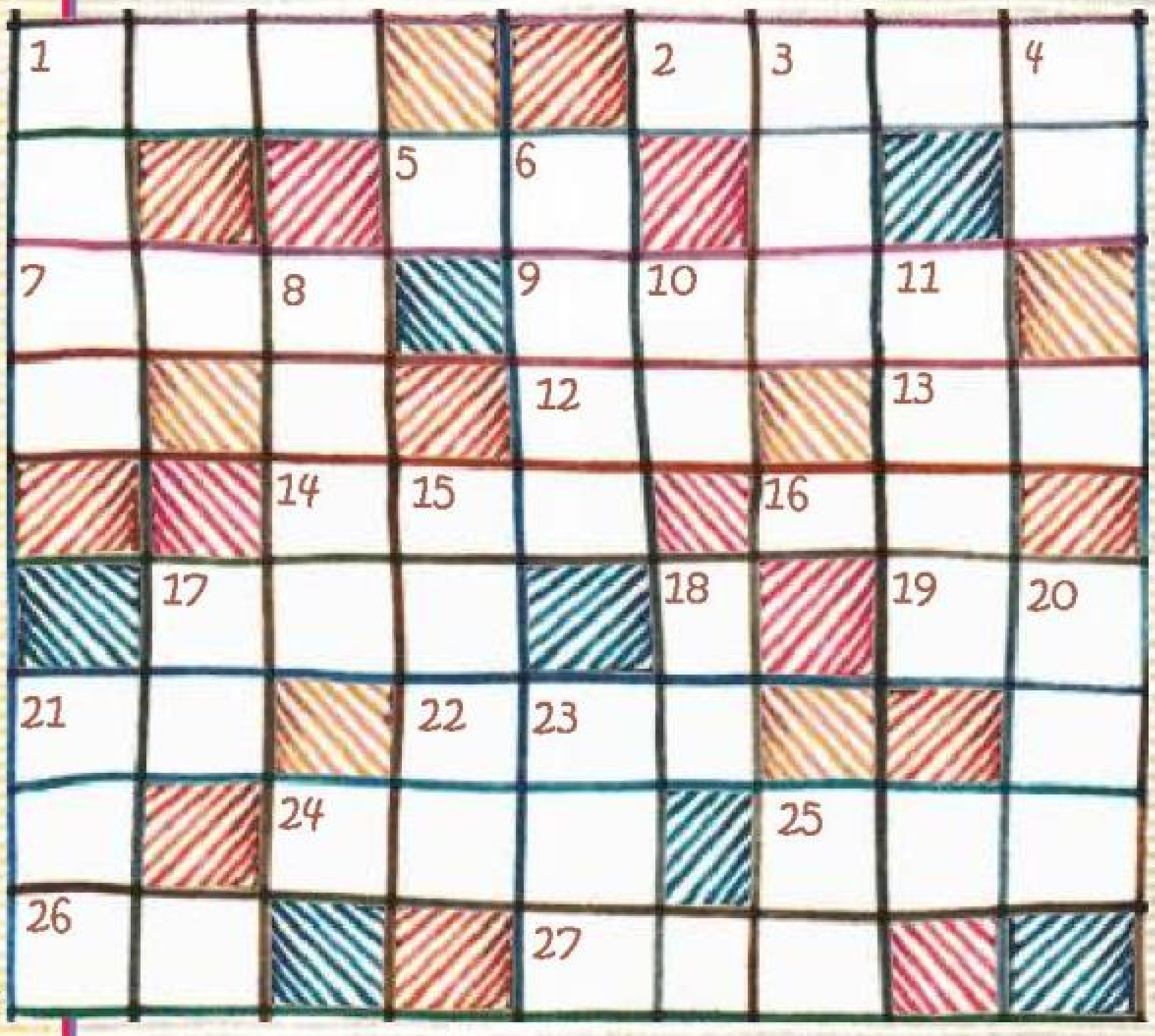

चित्रः कनक

RNI क्र. 50309/85 डाक पंजीयन क्र. म.प्र./261/भोपाल/2012-14

दो गौरय्ये

विजय बहादुर सिंह

नन्हा तिनका लिए चोंच में दो गौरय्ये
जाने कब से पड़े सोच में दो गौरय्ये

बाहर-भीतर हलचल-हलचल
ऊपर-नीचे बिजली-बादल
बैठे काठ खरोंच रहे हैं दो गौरय्ये
जाने क्या-क्या सोच रहे हैं दो गौरय्ये

झेल चुके हैं अब तक दो मन
जितने फागुन उतने सावन
खुद ही खुद को कोंच रहे हैं दो गौरय्ये

ढूँढ न पाए अब तक दर-घर
दो घर-पाँखी चढ़े बवण्डर
अपने ही पर नोच रहे हैं दो गौरय्ये
जाने क्या-क्या सोच रहे हैं दो गौरय्ये।

चित्रः अतनु राय

प्रकाशक एवं मुद्रक अरविन्द सरदाना द्वारा स्वामी रैक्स डी रोज़ारियो के लिए एकलव्य, ई-10, शंकर नगर, 61/2 बस स्टॉप के पास, भोपाल 462016, म.प्र. से प्रकाशित एवं आर. के. सिक्युप्रिन्ट प्रा. लि. प्लॉट नम्बर 15-बी, गोविन्दपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, गोविन्दपुरा, भोपाल - 462021 (फोनः 0755 - 2687589) से मुद्रित।
सम्पादकः सुशील शुक्ल